सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष : 47
अंक : 3
जून-2014

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाई-22002 (आगरा) उ.प्र.

अमृत कण

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदु:खयो:।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत्।।

सुख-दु:ख का कर्ता व्यक्ति स्वयं ही होता है, ऐसा समझकर कल्याणकारी मार्ग का ही अवलम्बन लेना चाहिए, फिर भयभीत होने की कोई बात नहीं।

• • •

हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षका:।
रजोमोहावृतात्मान: प्रियमेव तु लौकिका:।।

परीक्षक – विवेकीजन (सारासारविचारद्वारा) ठीक-ठीक परीक्षा करके हितकर मार्ग का सेवन करते हैं, परंतु रजोगुण और तमोगुण से आवृत बुद्धि वाले लौकिक मनुष्य (हिताहित का विचार न करे तत्काल) प्रिय (मालूम होने वाले आचार आदि) का सेवन करते हैं (इसलिए दु:खी होते हैं)।

• • •

सुखार्था: सर्वभूतानां मता: सर्वा: प्रवृत्तय:।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्।।

सम्पूर्ण प्राणियों की सभी चेष्टाएँ सुख- प्राप्त करने के लिए ही होती हैं और वह सुख बिना धर्माचरण के प्राप्त हो नहीं सकता, अत: धर्म में परायण रहना चाहिए।

• • •

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मुञ्चति किं यम:।
अजातं नैव गृण्हाति कुरु यत्नमजन्मनि।।

अरे मूर्ख (मनुष्य)! क्या तुम मृत्यु से डर रहे हो? डरे हुए को क्या मृत्यु छोड़ देती है? ऐसा समझ रहे हो तो यह तुम्हारी मूर्खता है। मृत्यु तो सबको काल का ग्रास बना देती है। वह तो जो जन्म ही नहीं लेता, उसी को नहीं पकड़ती है। इसलिए ऐसा प्रयत्न करो, जिससे पुन: जन्म ही न लेना पड़े।

• • •

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 47 जून 2014 अंक : 3

ॐ आप्यायन्तु ममांगानि वाक् प्राणश्चक्षुः
श्रोतमथो वलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं
माहं ब्रह्म निराकुर्या मा मा ब्रह्म निराकरोत्,
अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते
य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।

(केनोपनिषद)

हे परमात्मन्! मेरे सारे अंग, वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज–सब पुष्टि एवं वृद्धि को प्राप्त हों। उपनिषदों में सर्वरूप ब्रह्म का जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी परित्याग न करे। मुझे सदा अपनाये रखे। मेरे साथ ब्रह्म का और ब्रह्म के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषदों में जिन धर्मों का प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म, उपनिषदों के एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मा में निरन्तर लगे हुए मुझ साधक में सदा प्रकाशित रहें, मुझ में नित्य निरन्तर बने रहें और मेरे त्रिविध तापों की निवृत्ति हो।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – *योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज*	3
2.	सम्पादकीय	9
3.	श्रीमद्भागवत में योग परिचर्या – डॉ. विजय सिंह	12
4.	चतुष्टय योग साधना – डॉ. जे. पी. शर्मा	16
5.	ईश्वर – स्वामी श्री देवेन्द्रानन्द गिरि	26
6.	गुरु भक्ति से ओतप्रोत – श्रीमती शारदा सिसौदिया	30
7.	माया का गुण कर्म विभाग क्या है? – प्रो. ऋषिराम शर्मा	32
8.	वज्रासन	39
9.	खोल दो दरवाजा – जगदीश राए बंसल	40

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 160.00
द्विवार्षिक	: रु. 280.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 900.00

कर्म और उसके प्रकार

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मैं तुम्हें बताता हूँ कि हमारा कर्माशय कैसे तैयार होता है और कर्म कितने प्रकारके होते हैं। देखो! हमारे चित्त में कर्म के संस्कार (वासना) पड़े रहते हैं उनका ही भुगतान करने के लिए हमें नाना शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं। चित्त में पड़े संस्कारों के अनुसार ही कर्म बनते हैं और पुनः कर्म से संस्कार बनते हैं इस प्रकार से यह कर्म चक्र बना ही रहता है। बीज से वृक्ष तथा पुनः वृक्ष से बीज की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार से कर्म एवं उसका बीज संस्कार का क्रम अनवरत बना चला हुआ है। हमारे तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं।

(1) क्रियमाण कर्म (2) संचित कर्म, तथा (3) प्रारब्ध कर्म

(1) **क्रियमाण कर्म** वे कहलाते हैं जो अभी किये जा रहे हैं। जैसे इस समय हम यज्ञ कर रहे हैं दान कर रहे हैं, ध्यान एवं जापादि कर रहे हैं। यह क्रियमाण कर्म है इसे **भुज्य मान कर्म** भी कहते हैं। यह अभी भोगे जाने वाले कर्म होते हैं।

(2) **संचित कर्म** वे कहलाते हैं जो हमारे जन्म जन्मान्तर में किये हुए कर्म हैं, किन्तु जिनका फल भोग अभी हमें नहीं मिला है। इनका भोग काल अभी नहीं आया है, इसलिए ये कर्माशय में पड़े हुए हैं। ये इतने अधिक हैं कि इनका भुगतान होना भी कठिन है। जिस प्रकार से माल–गोदामों में अनाज जमा रहा करता है उसी प्रकार से कर्म भोग देने के लिए कर्म संस्कार के रूप में हमारे चित्त में कर्माशय के रूप में ढेर के ढेर पड़े हुए हैं ये **संचित कर्म** कहलाते हैं।

(3) **प्रारब्ध कर्म** वे होते हैं जैसे माल गोदाम में पड़े अन्न के ढेर में से कुछ अन्न हम उपयोग के लिये बाहर निकाल लेते हैं। कर्म समुच्च में से कुछ कर्म निकाल कर एक कर्माशय तैयार करते हैं। हमारा प्रारब्ध कैसे तैयार होता है मैं इसे तुम्हें स्पष्ट कर देता हूँ। हमारे कर्माशय (कर्म समुच्चय) में से एक कर्म मुखिया बनता है वह चाहे पाप का हो अथवा पुण्य का हो। वह मुखिया कर्म अपने ही जैसे पाप या पुण्य संस्कारों को लेकर एक प्रारब्ध तैयार करता है। जो एक जन्म का कारण बनता है। प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही सहजा प्रकृति बनती है। योग दर्शन में एक सूत्र में बतलाया गया है –

सति मूले तद्विपाको जात्यायुभोगः अर्थात् अविद्या के मूल से रहते हुए उसके विपाक के रूप में जीव के जाति, आयु एवं भोग मिलते हैं अर्थात् जीव के मृत्यु से पहले ही अगला शरीर, आयु और सुख दुःख रूप भोग का निश्चय हो जाया करता है। कर्म समुच्चय में ये यदि पुण्य कर्म मुखिया बन जाये तो वह व्यक्ति प्राणी मात्र पर दया करने वाला, सद्भावना रखने वाला,

परोपकारी धर्मात्मा, निरोग, स्वस्थ एवं दीर्घायु वाला होता है। यज्ञ, दान, स्वाध्याय व ईश्वर चिन्तन उसके स्वभाव में होता है यदि मृत्यु के समय कोई पाप कर्म कठोर कर्म मुखिया बन जाता है तो वह व्यक्ति अभिमानी काम–क्रोध में लिप्त रहने वाला दुराचारी हिंसात्मक प्रकृति का, अन्यायी तथा रोगी होता है। अन्त समय में मृत्यु के समय अच्छा बुरा कौन सा कर्म सामने आयेगा यह कहा नहीं जा सकता। क्लिष्ट संस्कार अधिक क्लिष्ट होने पर उस दु:ख की भावना से भावित रहने के कारण मनुष्य का मानव देह छूट जाता है और वह निम्न योनियों में चला जाता है। एक साधारण मनुष्य जब मरने लगता है जो सन्तों का कहना है कि उसे एक हजार बिच्छू के काटने के बराबर दु:ख होता है जो पापात्मा होता है उसे मौत के समय दस हजार बिच्छू के एक साथ काटे जाने के बराबर दु:ख होता है। बड़ी ही मुश्किल से उसके प्राण निकला करते हैं। प्राण निकलने के बाद भी वह अनुभव करता रहता है अमुक–अमुक मेरे रिश्तेदार व प्यारे थे उनकी शक्लें ऐसी थीं किन्तु अंधकार में उसे कुछ दिखाई नही देता था। वह मारा–मारा फिरता है। तुम्हें इस बात का पता भी होगा कि हमारे हिन्दू धर्म में किसी की मृत्यु हो जाने के बाद चौराहे पर दीपक रख देते हैं तब ब्राह्मण संकल्प करता है कि गतात्मा की अंधकार निवृत्ति के लिए दीपदान कर रहे हैं। देखो! यदि कोई शक्ति वाला दीपक लगा रहे हो तब तो और बात है किन्तु साधारण व्यक्ति के दीया लगाने से उसका अंधकार दूर हो जाये यह जरा असंभव सी बात है। किन्तु फिर भी रिवाज है इसलिए लगाते हैं। मृत्यु काल में हमारे यहाँ एक और भी रिवाज है मिट्टी के दीवले से उसके मुख में एक–एक बूंद पानी डाला करते हैं। ताकि जीवात्मा प्यासा न चला जाये। प्रयाण काल में प्राणों के घर्षण से जीव को बहुत प्यास लगती है। इसलिए उसे थोड़ा–थोड़ा करके पानी पिलाया जाता है। जीव फिर भी घोर दु:ख भोगता हुआ शरीर छोड़ देता है। उसकी मृत्यु के बाद भी पीपल के पेड़ में घड़ा लटका दिया जाता है और उसमें एक छोटा सा छेद कर दिया जाता है जिसमें से एक–एक बूंद पानी आया करता है। इसका भी प्रयोजन यही है कि जीवात्मा को पीने का पानी मिल जाये। स्थूल शरीर से तो उसका सम्बन्ध छूट जाता है, किन्तु मन का सम्बन्ध रहता है। स्थूल शरीर के बिना वह पानी नहीं पी सकता। इस प्रकार से वह तड़पता हुआ जाता है और जब तक दोबारा जन्म नहीं होता तब तक तड़पता ही रहता है। इसी प्रकार से पिशाचयोनि, ब्रह्म राक्षस आदि योनियाँ हैं। जिनमें प्यास लगी रहती है और जीव को घोर दु:ख होता रहता है। इसीलिए मानव शरीर से ही इन दु:खों से छूटने का उपाय किया जा सकता है। देह छूटने से पहले ही जिस योनि, आयु एवं भोग के निश्चय की बात कही गई है वह ही **प्रारब्ध** कहलाता है। सामान्य नियम यह है कि **'प्रारब्ध कर्मणाम योगादेय क्षय:'** प्रारब्ध कर्म का भोग से ही क्षय होता है। प्रारब्ध कर्म में भी पाप पुण्य सदा रले–मिले रहते हैं। अच्छे संस्कार वश पुण्य कर्म करते हुए भी बीच–बीच में क्लिष्ट संस्कारों का व्यवधान आ जाया करता है इसी प्रकार से क्लिष्ट अर्थात् दु:खमय संस्कारों को भुगतान करते हुए भी पुण्य के संस्कार बीच–बीच में आते रहते हैं। **क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति।।**

इसीलिए यह देखा जाता है कि डाकू आदि क्रूर वृत्ति के व्यक्ति भी पुण्य कर्म करने लगता है। कई डाकुओं ने अनेक गरीब कन्याओं की शादियां कराई। गौशाला बनवाये। विद्यालयों तथा मन्दिरों की स्थापना की। इसी प्रकार से पुण्य कर्म के परिणामस्वरूप सुख भोगते हुए भी दु:ख आ जाया करते हैं। हमें स्वस्थ शरीर, सुन्दर मकान, विपुल धन एवं अन्य सुख सुविधायें उपलब्ध हो जाती हैं। इससे हमारी राजस वृत्ति बनती है। हमारी भीतरी जगत को जगाने की प्रवृत्ति नहीं बनती। पुण्य का प्रारब्ध भोगते–भोगते, क्लिष्ट कर्म–बुरे कर्म का व्यवधान आ जाने पर हमें कई प्रकार के दु:ख एवं रोग घेर लेते हैं। जब मैं लाहौर में योग प्रचार कार्यक्रम चला रहा था उस समय हमारे पास एक वकील आया करता था उसका नाम नियामत राय था। वह बहुत नामी वकील था। बीसियों वकील उसके अधीन काम किया करते थे। पैसा उसके पास बहुत था। किन्तु उसकी हालत बड़ी दयनीय थी। उसकी दो स्त्रियाँ थीं जो उससे लड़ती झगड़ती रहती थीं। उसे पायोरिया रोग भी लगा हुआ था। पेट उसका बहुत बड़ा था। प्राय: उदारध्मान–अफारा से–पीड़ित रहा करता था। कुछ खा–पी नहीं सकता था। हमारे पास योग साधना के लिए आया करता था। उसेन हमसे कहा महाराज जी! लाखों की सम्पत्ति होने पर भी मैं दु:खी ही रहता हूँ।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि दु:ख सम्पत्ति तथा अन्य सुख सुविधाओं के रहते हुए भी क्लिष्ट संस्कारों का प्रवाह आया जाया करता है तो मनुष्य दु:खी हो जाता है। इसलिए योगी लोग सुख को भी दु:ख की दृष्टि से ही देखते हैं 'सर्वमेव दु:खम् विवेकिन:'। संसार चक्र को काटने का उपाय योग साधना ही है। एक पल का संस्कार भी किसी के प्रति बन जाता है तो वह संस्काराशय में पड़ा रहता है। समय आने पर वह भुगतान में आता है।

एक बार लाहौर में हमारे बड़े गुरु भाई श्री मुल्खराज जी महाराज के पास कोई महात्मा आया। थोड़ी देर बातचीत की और फिर कहने लगा–हमारे इतनी देर के बातचीत के यह संस्कार पिछले तीन जन्मों से चले आ रहे हैं। मैंने आज यह संस्कार पूरा कर दिया। अब हमारा तुम्हारा कोई संस्कार नहीं है। इसलिए सभी को अपना अलग प्रारब्ध शुभ बनाने के लिए ध्यान योग का अभ्यास करना चाहिए। योगदर्शन में कर्म की चार जातियाँ बताई हैं।

आशुक्लाकृष्ण योगिनाम् त्रिविधमितरेषाम्

अर्थात्

योगियों के कर्म न पुण्य के होते हैं और न पाप के अर्थात् पाप–पुण्य रहित होते हैं। संसारी व्यक्तियों के तीन प्रकार के कर्म होते हैं शुक्ल कर्म (पुण्य कर्म) कृष्ण कर्म (पाप कर्म) तथा शुक्ल कृष्ण मिश्रित कर्म। संसारी व्यक्तियों के ये तीन प्रकार के कर्म ही बार–बार जन्म मरण के कारण बनते हैं। एक कर्म के विपाक को भोगते हुए उसी से दूसरा कर्म तैयार हो जाता है। प्रारब्ध के जिस प्रकार का भुगतान चलता है वह पुन: अपने जैसे कर्म संस्कार तैयार कर लेता है। मनुष्य जीवन में कुछ ऐसे भी कर्म बन सकते हैं जो रेख पर मेख लगाने वाले हैं। योग

दर्शन में **'क्लेशमूल: कर्माशय: दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीय:'** यह सूत्र आया है। इसका अर्थ है कि हमारा कर्माशय क्लेश मूलक होता है। हमें अपने कर्मों के फल दृष्ट जन्म में तथा अदृष्ट जन्म में भोगने पड़ते हैं। कुछ कर्म ऐसे तीव्र फलदायी होते हैं जो इसी जन्म में फल दे देते हैं। वे तीव्र कर्म चाहे पुण्यात्मक हों या पापात्मक ऐसे तीव्र फलदायी कर्म इसी जन्म में फल दे जाते हैं। इसे ही दृष्टजन्म वेदनीय कर्म कहते हैं। कुछ पुण्य कर्म ऐसे हैं जिनका फल इसी जीवन में मिल जाता है। **'तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्र तप समाधिभिर्निवतित: ईश्वर महर्षि महानुभावानाम् आराधनाद्वा सद्य: परिपच्चते पुण्य कर्माशय:'**।।

अर्थात् तीव्र संवेग (अत्यन्त उत्साह) से किया गया मन्त्रजप, तप एवं समाधि के अभ्यास का फल इसी जन्म में मिल जाया करता है। इसी प्रकार से ईश्वराधना, महर्षि एवं सिद्ध गुरुओं की आराधना का फल भी इसी जन्म में लिया जाता है। इस प्रकार के पुण्य कर्माशय का विपाक इसी जीवन में मिल जाता है।

कुछ ऐसे कठोर पाप कर्म हैं जिनका फल भी इसी जीवन में मिल जाया करता है। तपस्वियों एवं ऋषियों के प्रति किया गया बार–बार अपकार, विश्वास में आये हुए प्राणी से विश्वासघात तथा गुरुजनों के अनादर का फल इसी जन्म में मिल जाता है। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिल पाता उसे अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म कहते हैं। मनुष्य से इतर जो नारकीय प्राणी हैं उनका दृष्टजन्मवेदनीय कर्म नहीं बनता अर्थात् उनमें बुद्धि की कमी होने के कारण उनके शरीरों से होने वाले कर्मों का कोई फल नहीं मिलता जिनके क्लेश क्षीण हो गये हैं। अर्थात् जो समाधिवान हैं उनका अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म नहीं बनता। क्योंकि उनके कर्म पाप–पुण्य से रहित होते हैं।

प्रश्न उठता है कर्म किसको कहते हैं इसका उत्तर योगदर्शन में व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में दिया है। **'कुशलाकुशलानि कर्माणि'** अर्थात् अच्छे और बुरे भाव से की गई क्रियाओं को कर्म कहते हैं। इसी भाव से धर्म और अधर्म बनता है। इस प्रकार से निर्णय यह मिला कि हमारे शरीर और इन्द्रियों से होने वाली हर हरकत कर्म नहीं कहलाती है। अच्छे या बुरे भाव रखकर जो हरकत की जायेगी वही कर्म बनेगा और उसी का फल भी मिलेगा कर्म फल भोग लेने के पश्चात् फिर वह संस्कार के रूप में रह जाते हैं। पुन: वृत्ति के रूप में उदित होकर कर्म के रूप में बदल जाया करते हैं। इस प्रकार से संस्कार वृत्ति और कर्म का चक्र चलता रहता है इससे छूटना बहुत कठिन हो जाता है। देखो ! एक संस्कार दूसरे संस्कार को जन्म देता है। अमृतसर में मेरा एक मित्र था। वह श्री प्रभु जी के चरणों में श्रद्धा रखता था। एक दिन मैंने श्री प्रभु जी से प्रार्थना करते हुए पूछा – प्रभु जी मेरा एक मित्र है आप के चरणों में अनुराग रखता है वह आपके दर्शन करना चाहता है यदि आप की आज्ञा हो तो मैं उसे आप के पास लाऊँ। प्रभु जी ने कहा – नहीं! उसे हमारे पास न ही लाना। श्री मुल्खराज जी भी पास में बैठे हुए थे। उन्होंने प्रभु जी से पूछा – प्रभुजी! आप उसे लाने की आज्ञा क्यों नहीं देते?

श्री प्रभुजी ने कहा – राजे! तुम्हें नहीं पता, संस्कार संस्कार का जनक होता है उसका मेरे पास लाना ठीक नहीं है। फिर प्रभुजी ने मुझसे कहा उसे मेरे पास मत लाना। दूसरे दिन मैं अपने किसी दूसरे मित्र को साथ लेकर प्रभु जी के पास आया। मैंने प्रभु जी को प्रणाम किया। उसने भी मेरी तरह प्रणाम किया। उस लड़के को प्रणाम करते समय श्री प्रभु जी ने उससे कहा अच्छा बेटा! तुम आ गये हो। चन्द्र मोहन तुम इसे ले आये हो। किन्तु जब श्री प्रभुजी ने उसके चेहरे को गौर से देखा तो कहने लगे– यह लड़का तो वह नहीं है। मैंने कहा – हाँ प्रभु जी। यह वह लड़का नहीं है उसके लिए तो आपने मुझसे मना किया। मेरे कहने का अभिप्राय यह कि श्री प्रभु जी उस लड़के की आकृति को जानते थे। इसलिए इस लड़के को देखकर कह दिया यह तो वह नहीं है। हमने तो समझा कि शायद वही लड़का तो नहीं आ गया। उसके बाद कुछ दिन बाद वह लड़का वहाँ से चला गया। फिर वह न मुझे कभी मिला न ही प्रभु जी के चरणारविन्द में आया। प्रभु जी ने यह दिखा दिया कि उसका इतना गहरा संस्कार था। मेरे कहने का मतलब यह कि संस्कार जो पैदा होते हैं वे हमारे एक दूसरे के आकर्षण से पैदा होते हैं। मैं तुम्हें समझा रहा था कि संस्कार संस्कार का जनक होता है। देखा! इसे मैं तुम्हें एक घटना से समझाता हूँ। हमारी बड़ी गुरु बहिन श्री द्रोपदी देवी जी अमृतसर में रहती थीं। उन्होंने एक दिन बाजार में श्री मुल्खराज जी महाराज को जाते हुए देखा। उस समय वे शिव रूप दिखाई दे रहे थे तृतीय नेत्र निकला हुआ था तथा उसमें तेज निकलता हुआ द्रोपदी जी ने देखा। वह भी धीरे–धीरे पीछे–पीछे चल पड़ी। यह देखने के लिए कि कौन महात्मा हैं कहाँ के हैं? धीरे–धीरे वह भी श्री प्रभुजी के चरणों में पहुँची। प्रभु जी के चरणों में आकर उसने एक भजन गाया। उस भजन को सुनकर श्री मुल्खराज जी प्रसन्न हो गये और कहने लगे! हे प्रभो! इसको आप चूड़ाला की सम्पत्ति दे दें।

चूड़ाला एक रानी थी बाद में सिद्धि शक्ति वाली योगिनी बन गई थी। उसी चूड़ाला की तरह इन्हें बना दें। उस वचन को सुनकर श्री प्रभु जी विचार करने लगे, इसने यह क्या कह दिया। इसके साथ हमारा इतना संस्कार तो है नहीं। संस्कार तो इतना ही था कि यह एक भजन गाती और चली जाती। किन्तु इसने तो इतना बड़ा संस्कार बना दिया कि यह तो सारा जीवन निपटेगा भी नहीं। प्रभु जी विचार करने लगे क्या इसको चूड़ाला की भांति बनावें या न बनावें। इतने में हमारे दादा गुरु महाप्रभु सदाशिव आकाश में आये और कहने लगे – देखते नहीं, किस अवस्था में यह बात कही गयी है। प्रभु जी ने कहा – हाँ प्रभो! इसने तुरीयावस्था में कही है। दादा गुरु ने कहा – तुरीयावस्था का वचन मिथ्या नहीं होता बनाओ इसको चटपट चूड़ाला। प्रभु जी ने उसी समय गहरा शक्तिपात कर दिया और द्रोपदी जी ऊँची स्थिति को पा गई। वह जब भगवान कृष्ण को भोग लगाती थी तो भगवान प्रकट होकर भोग लगाते थे। उसने अपनी यह बात औरों से भी कह दी इस पर सब लोग इसे प्रत्यक्ष दिखाने का आग्रह करने लगे। बात पहुँचते–पहुँचते भी प्रभु जी तक पहुँच गई। प्रभु जी ने कहा द्रोपदी तुमने सबको बनाकर बहुत

गलती की है। अब तू सबके सामने भोग लगा कर प्रत्यक्ष खाते हुए सब को दिखा। उसने सबके सामने भोग लगाकर भोग लगाया। उस दिन रोटी का ग्रास नहीं उठा। द्रोपदी जी ने कहा प्रभु जी! आज तो ग्रास नहीं उठा। प्रभु जी ने कहा तुमने सबमें प्रचार कर दिया है न। इसलिए ऐसा हुआ है। अब तू और दृढ़ मन से प्रार्थना कर। बहिन द्रोपदी जी ने एक भजन बनाया। बैकुण्ठवासी हे प्रभु जी। आ जा, भोग लगा जा मैं लिये हूँ थाल में भोजन भोग लगा जा आ जा। इस प्रकार भजन गाकर जब ध्यानस्थ हुई तो उसी समय भगवान कृष्ण ने भोग लगाया और सबने देखा कि रोटी का ग्रास टूट कर आकाश में लय हो रहा है। किन्तु द्रोपदी जी देख रही थी कि भगवान कृष्ण भोजन कर रहे हैं। इस प्रकार से टूट–टूट कर दो रोटी समाप्त हो गई। इतनी बातें सुनाने का मेरा अभिप्राय यह है कि संस्कार संस्कार को जन्म देता है। श्री प्रभु जी ने कहा, इसका संस्कार हमारे साथ इतना ही था कि एक भजन बोलती और चली जाती किन्तु इसने (मुल्खराज जी) यह कह कर कि चूड़ाला की सम्पत्ति दे दो इस संस्कार को बहुत लम्बा कर दिया। महाप्रभु जी के कहने पर प्रभु जी ने उसे चूड़ाला की सम्पत्ति दे दी। उस पर तीव्र शक्तिपात कर उसकी बहुत ऊँची स्थिति बना दी। मैं जिस बात को कहना चाह रहा था वह यह कि --

ईशावस्यमिदं सर्वम् यत्किन्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुन्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

अर्थात् इस संसार में कण–कण में परमात्मा का वास है। अतः त्याग भाव से वस्तुओं को भोग करो। जो आया है तो अवश्य चला जायेगा। ममता और आसक्ति के भाव को त्याग कर संसार में रहो। तुम सब उठते–बैठते, चलते–फिरते, सोते–जागते हर समय अपने गुरु मंत्र का जाप करते रहो। यदि ऐसा करोगे तो तुम्हारे अन्दर तेज समा जायेगा उस तेज के आने के बाद किसी के प्रति आसक्ति और मोह नहीं रहेगा। इसलिए अन्तर्ज्योति को प्राप्त करो ताकि संस्कार चक्र टूट जाये और श्री प्रभु जी के चरण कमल अखण्ड रूप से मिल जायें। बस! बार–बार सभी को आशीर्वाद ।

तप न करने वाले को आत्म–ज्ञान प्राप्त नहीं होता और न उसे कर्म ही सिद्ध होता है। जो तप से पापरहित हुआ है, जो उत्तम प्रकार से योगयुक्त (समत्व युक्त) होकर सतत् चिन्तन करता है उसे ब्रह्म द्वार प्राप्त होता है। अतः विद्या से, तप से तथा चिन्तन से ब्रह्म–प्राप्ति होती है।

श्री महावाल्मीकीय रामायण एवं योग

— योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

(गतांक से आगे)

देवर्षि नारद जी ने जिस रघुकुल की दिव्य गाथा को महर्षि वाल्मीकि को सुनाया उसे ही कालान्तर में महर्षि ने अपने शिष्य लव और कुश को सुनाया और उन दोनों ने इस दिव्य गाथा को कण्ठाग्र कर लिया। महर्षि ने लव–कुश को बताया कि सरयू नदी के किनारे कौशलपुर नाम का राज्य है और धन–धान्य से परिपूर्ण है सारी सम्पदा जहाँ प्रचुर मात्रा में है उसी राज्य के अन्तर्गत अयोध्या नाम की नगरी है जो जग प्रसिद्ध है जिसे स्वयं मनु महाराज ने बनाया था। इसी नगरी का राजा दशरथ था जो इन्द्र के समान पराक्रमी और वैभवशाली था। किन्तु यह राजा सन्तानहीन था। महर्षि वशिष्ठ की आज्ञानुसार राजा दशरथ ने एक यज्ञ किया। उधर, सिद्ध, गन्धर्व, देवता सभी रावण के कुकृत्यों से अत्यधिक पीड़ित हो रहे थे। सभी ने मिलकर भगवान विष्णु से प्रार्थना की और वे प्रकट हो गये। वे कहने लगे – तुम लोग भय को त्यागो। मेरा पृथ्वी पर अवतरण होगा। मैं पृथ्वी पर आकर रावण व अन्य सभी दुष्ट राक्षसों का वध करूँगा और पृथ्वी पर रहकर पुनः धर्म की स्थापना करते हुए प्रजा का पालन करूँगा। निम्न श्लोक द्रष्टव्य है।

भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम्।
हत्वा क्रूरं दुरात्मानं देवर्षीणाम् भयावहम्।
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन पृथिवीमिमाम्।

भगवान् विष्णु के इन वाक्यों से सभी आश्वस्त हुए। इधर वशिष्ठ द्वारा विहित यज्ञाग्नि से एक दिव्य देवी प्रकट हुई जिसके हाथ में दिव्य पायस (क्षीर) का पात्र था। राजा दशरथ से कहा – ''देवनिर्मित इस पायस को ग्रहण करो।'' राजा दशरथ ने उस पायस को अपनी रानियों में वितरित कर दिया। पायस का आधा भाग देवी कौशल्या को दे दिया। तीसरा भाग सुमित्रा को तथा चौथा भाग कैकेयी को दिया गया। शेष बचा पुनः सुमित्रा के दे दिया गया। इस प्रकार से विष्णु एवं अपने अंश से दशरथ के पुत्रों के रूप में उत्पन्न हुए। उधर ब्रह्मा जी ने देवताओं से कहा तुम लोग भी अपने ही समान शक्तिशाली पुत्रों को वानरों के रूप में सृजन करो।

निम्न श्लोक देखिये –

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ–राज्ञस्तस्य महात्मनः
उवाच देवता सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदम्।

सृजध्वं हरि रूपेण पुत्रांस्तुल्यप्रराक्रमम्।

बारह मास के बाद चैत्र मास की नवमी को भगवान विष्णु ही अपने आधे भाग से 'राम' के रूप में प्रादुर्भूत हुए। इसी प्रकार से 'पायस' के फल स्वरूप कैकयी से भरत तथा सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न उत्पन्न हुए। महर्षि वशिष्ठ ने इन चारों पुत्रों के गुण और लक्षण के अनुसार ही नाम करण किया। दिनोंदिन चारों पुत्रों को बड़े होते देखकर राजा दशरथ अत्यन्त आनन्दित होने लगे। इन बालकों के बाल्यावस्था को पार करने के पश्चात् राजा इनके विवाह के विषय में सोचने लगे। अपनी राजसभा में इस बात की मन्त्रणा कर ही रहे थे कि महर्षि विश्वामित्र का आगमन हो गया। अपने राजसभा में महर्षि को आते देखकर राजा दशरथ अत्यन्त हर्षित होकर कहने लगे। ब्रह्मर्षि! आपको यहाँ अपने नगरी में पाकर मन अत्यन्त ही हर्षित हो रहा है। इस समय यहाँ आने का विशेष प्रयोजन हो तो बतायें। महर्षि विश्वामित्र ने कहा – 'मैं अपनी विशेष साधना में लगा हुआ हूँ। वहाँ मेरे स्थान (आश्रम) के पास दो दुष्ट राक्षस रहते हैं। वे यथाभिलषित रूप धारण कर लेते हैं और मेरे यज्ञ एवं ध्यानादि में बहुत ही विघ्न उपस्थित कर देते हैं। उनका नाम मारीच और सुबाहु है। मैं अपनी आत्मिक शक्ति से उन्हें नष्ट कर सकता हूँ किन्तु मैं ऐसा करना नहीं चाहता हूँ। इसलिए आप अपने बड़े पुत्र राम को मेरी सहायता के लिए भेज दें।

महर्षि विश्वामित्र के इन वचनों को सुनकर राजा दशरथ क्षणभर के लिए संज्ञाहीन (बेहोश) हो गये। थोड़ी देर बाद होश में आ जाने पर कहने लगे – ''ब्रह्मर्षि! मेरा पुत्र राम अभी सोलह वर्ष से भी कम आयु का है। मैं नहीं समझता हूँ कि वह दुष्ट राक्षसों से युद्ध कर सकेगा। मैं कई अक्षौहिणी सेना का स्वामी हूँ उन्हें मैं भेज दूँगा किन्तु मेरे राम को ले जाने की बात न कहें। वह अभी अस्त्र–शस्त्र की विद्या में पूर्ण निपुण भी नहीं है। इसलिए आप इन्हें न ले जायें।'' इस के पश्चात ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी कहने लगे – राजन् ! राम स्वयं धर्मस्वरूप है। महर्षि विश्वामित्र सभी विद्यायें जानते हैं, वे तो इन्हें ले जाकर इन्हें यश ही दिलाना चाहते है। अन्ततोगत्वा राजा दशरथ श्री राम और लक्ष्मण को महर्षि के साथ भेजने को राजी हो जाते हैं। गुरुदेव वशिष्ठ ने राम व लक्ष्मण को मन्त्रों से अभिमंत्रित करके रक्षित कर दिया। इस प्रकार से वशिष्ठ जी की आज्ञापूर्वक दोनों राजकुमार महर्षि विश्वामित्र जी के साथ चले गये, थोड़ी दूर सरयू नदी पर पहुँच कर महर्षि ने राजकुमारों से कहा –वत्स राम! अपने हाथों में जल ले लो। मेरे द्वारा प्रदत्त बल और अतिबल नाम की शक्ति को प्राप्त करो। तीनों लोकों में तुम्हारे समान बल और तेज वाला नहीं होगा। इस प्रकार से दोनों राजकुमारों ने और भी कई गुप्त विद्यायें सीख ली। इन तीनों ने रात्रि सरयू नदी के किनारे बिताई। प्रातः होते ही महर्षि बोले – राम! प्रातः हो गया है। सन्ध्या वंदन व देव अर्चन कर लो। उन दोनों ने देव अर्चना किया आगे चल पड़े। उस घनघोर जंगल को देखकर श्री राम ने महर्षि से पूछा – यह वन बड़ा घनघोर है इसका नाम क्या है? महर्षि बोले! बेटा ! यह दारूण वन है। यहाँ सुन्द नाम के राक्षस की पत्नी रहती है जिसका नाम

ताटका है। उसी का पुत्र मारीच है जो इन्द्र के समान पराक्रमी है। ताटका यहाँ से लगभग ढाई योजन दूर रास्ते को घेर कर पड़ी रहती है। हमें वहीं जाना है जहाँ ताटका रहती है। हे राघव! गो–ब्राह्मण के हित में तुम्हें उसका वध करना है। वह बहुत नृशंस है और तपस्वियों को भी खा जाती है। हे पुरुषोत्तम! तुम्हें स्त्री वध का पाप नहीं लगेगा। चातुर्वरण्य के हित के लिए राजकुमार को ऐसा करना ही चाहिए। हे राजकुमार!

नृशंसमनृशंसं वा प्रज्ञा रक्षणकारणात्

पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षतासदा।

राज्यभारनियुक्तानाम् एष धर्मस्सनातनः।

"चाहे क्रूर कर्म हो या न हो, पापयुक्त हो या दोष युक्त हो, राज्य के रक्षणभार को वहन करने वाले को ऐसा करना ही पड़ता है यह सनातन धर्म है।" महर्षि के इन वचनों को सुनकर के श्री राम उस राक्षसी को मारने के लिए उद्यत हो गये। उन्होंने अपने धनुष का गगनभेदी टंकार किया। राक्षसी यह सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गई। श्री राम को देखकर के अपने पिछले पैरों से तूफान की तरह धूल उड़ाये और क्रोध से श्रीराम की तरफ दौड़ने लगी। श्री राम ने राक्षसी की छाती पर बाण मार दिया और वह भूमि पर गिर कर मर गई। इसके छटे दिन मारीच छलयुक्त करतब दिखाता हुआ सामने आया। श्री राम जी ने उस पर भयंकर मानवास्त्र चलाया। उस अस्त्र से वह समुद्र में दूर जाकर गिरा। इसी प्रकार से श्री राम जी ने सुबाहू को भी मार दिया। उस क्षेत्र में जितने भी राक्षस थे श्री राम जी ने सभी को मार दिया। क्षेत्र में राक्षसों का आतंक समाप्त हो गया। महर्षि विश्वामित्र कहने लगे – **कृतार्थोऽस्मिमहाबाहो कृतं गुरुवचस्त्वया।** हे राम! मैं कृतार्थ हो गया हूँ। तुमने अपने गुरु के वचनों का पालन कर लिया है।

(क्रमशः)

जब साधक, नाम, रूप, देह, मन, बुद्धि आदि से अपने को सर्वथा पृथक समझ लेता है तब वह ईश्वर की शरण और कृपा देहादि सम्बन्ध से होने वाले समस्त क्लेशों और पापों से सदा के लिए सर्वथा मुक्त हो जाता है एवं विज्ञानानंदघन परमात्मा का सनातन अंश होने के कारण सदा के लिए प्रभु को प्राप्त हो जाता है।

श्रीमद्भागवत में योग परिचर्चा

– डॉ. विजय सिंह

तीसरे स्कन्ध के तेइसवाँ अध्याय में, योग के अतुल शक्ति का वर्णन, महायोगी कर्दम जी के कथा में वर्णित हुआ है। मैत्रेय जी ने विदुर जी से कहा– कर्दम मुनि ने अपनी प्रिया की इच्छा पूर्ण करने के लिए उसी क्षण योग में स्थित होकर एक विमान रचा, जो सर्वत्र इच्छानुसार जा सकता था –

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन कर्दमो योगमास्थितः।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत्।। 12।।

स्क. 3 अ. 23

विमान की दिव्य रचना एवं आन्तरिक कक्षों की साज–सज्जा का विभूति पूर्ण होने का वर्णन है। इधर अनेक वर्षों से सेवा परायण देवहुती सूखकर कंकाल मात्र रह गयी थी। युवती की कोई शोभा ही न थी। अतः पुनः कर्दम जी देवहूती को बिन्दुसरोवर में स्नान करने की आज्ञा देते हैं। सरोवर से एक गोता लगाकर निकलते ही देवहुती ने जब दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो पाया कि वह निर्मल कांतियुक्त काया सम्पन्न हो गयी है तथा देव कन्याओं ने मांगलिक श्रृंगार से, दिव्य वस्त्रों से उन्हें सुसज्जित किया हुआ है। आगे कर्दम ऋषि द्वारा प्राणप्रिया देवहुती के साथ भिन्न लोक लोकान्तरों में जाकर विहार करने का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार महायोगी कर्दम जी यह सारा भूमण्डल अपने प्रिया को दिखाकर अपने आश्रम लौटे।

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान स्वसंस्थया।
ब्रह्माश्चर्य महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत।। 43।।

स्क. 3 अ. 23

योग द्वारा भुक्ति–मुक्ति की चर्चा की गयी है। इस प्रकार कामासक्त दम्पत्ति को अपने योग बल से सैकड़ों वर्षों तक विहार करते हुए भी वह समय बहुत थोड़े काल का प्रतीत हुआ।

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः।
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक्।। 46।।

स्क. 3 अ. 23

आत्मज्ञानी कर्दम जी भूतभविष्यत के ज्ञाता थे। उन्होंने नवकन्याओं तथा एक पुत्र भगवान कपिल के जन्म के कारण बने। तद्पश्चात अपने पूर्व संकल्पानुसार वे सन्यस्थ होकर हिमालय चले गये जहाँ अपने स्वरूप समाधि सुख भोग, चिरकाल तक करते रहे।

संसार में जिन लोगों द्वारा न धर्म का सम्पादन होता है, न हृदय में वैराग्य का जन्म होता

है और न भगवान की सेवा ही बन पाता है, ऐसे पुरुषों को महात्मा लोग जीवित मुर्दा ही मानते हैं। स्कन्ध तीन के चौबीसवें अध्याय में ब्रह्मा जी ने स्वयं प्रकट होकर कर्दम मुनि की प्रशंसा करते हैं तथा बताते हैं कि तुम्हारा पुत्र कपिल स्वयं आदिनारायण का ही योगमाया युक्त अवतार है। यह सिद्धों के स्वामी और सांख्याचार्यों के भी माननीय होंगे। 'अयंसिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः' ।मरीच आदि प्रजापतियों के साथ अपनी कन्याओं का विधिपूर्वक कर्दम जी ने विवाह कर दिया। एकान्त में अपने हरि अवतार पुत्र के पास जाकर प्रणाम करते हुए बोले– प्रभो! आपके स्वरूप को योगिजन अनेकों जन्मों के साधना से सिद्ध एवं सुदृढ़ समाधि द्वारा दर्शन पाते हैं, वही भक्त वत्सल आप मुझ विषयलोलुपों के घर अवतीर्ण हुए हैं –

वहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम्।। 28।।
स एव भगवानद्य हेलनं नगणय्य नः।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः।। 29।।

पच्चीसवें अध्याय में, माता देवहूति को कपिल जी द्वारा भक्तियोग की महिमा बतायी गयी है। यहाँ शौनक जी ने सूतजी से भगवान कपिल के चरित्र को सुनने की जिज्ञासा किया है – वे कहते हैं, मैंने भगवान के बहुत चरित्र सुने हैं, परन्तु इन योगिप्रवर पुरुष श्रेष्ठ कपिल जी की कथा सुनते मेरी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होती –

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम्।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः।। 2।।

स्क. 3 अ. 25

मैत्रेय जी आगे की कथा कहते हुए विदुर जी से बोले – एक दिन तत्व समूह के पारदर्शी भगवान कपिल अपने आसन पर विराजमान थे। उस समय माता देवहुती ने कहा – प्रभो! मैं देह–गेह के बन्धन में पड़ी अज्ञानान्धकार में पड़ी हूँ। मैं प्रकृति और पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने हेतु आपके शरणागत हूँ। मैं आपको प्रणाम करती हूँ।

भगवान कपिल ने कहा – माता! यह मेरा निश्चय है कि अध्यात्म योग ही मनुष्यों के कल्याण का एकमेव मुख्य साधन है, जिससे दुःख एवं सुख की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। उस सब अंगों सहित योग को कभी मैंने नारद को बताया था। वही अब मैं आपको सुनाता हूँ।

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निः श्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च।। 13।।

स्कं. 3, अ. 25

तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वांगनैपुणम्।। 14।।

स्क. 3 अ. 25

आगे कहते हैं – मन ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण है। मन की विषयों में अनुरक्तता बन्धन और परमात्मा में अनुरक्तता होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। श्रद्धा–भक्ति के समान मंगलमय मार्ग नहीं है। आसक्ति ही बंधन है तथा संतों–सिद्धों महापुरुषों का संग ही मोक्ष का खुला द्वार बन जाती है।

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये।। 19।।

साधक, मेरी सृष्टि आदि लीलाओं का चिन्तन से प्राप्त भक्ति द्वारा लौकि वं पारलौकिक सुखों में वैराग्य होने पर सावधानी पूर्वक योग द्वारा मनोनिग्रह के लिए यत्न ‍गा। प्रकृति के गुणों से उत्पन्न हुए विषयों का त्याग करके, वैराग्य युक्त ज्ञान से योग द्वा मुझ में भक्ति रखता हुआ मुझ अन्तरात्मा को इस देह में ही प्राप्त कर लेता है–

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो,
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः।। 26।।
असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां,
ज्ञानेन वैराग्यविजृंभितेन।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या,
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे।। 27।।

श्री मैत्रेय जी विदुर जी से कहते हैं – माता के अभिप्राय को जानकर श्री कपिल जी ने प्रकृति आदि तत्वों का निरूपण करते हुए सांख्य शास्त्र का उपदेश किया। साथ ही भक्ति–विस्तार एवं योग का वर्णन किया – 'प्रोवाच वै भक्तिवितानयोगम्।' भगवान कपिल ने अपने प्रभाव का वर्णन करते हुए गीतोक्त रूप में ही कहते हैं कि मेरे आश्रय हो जाओ हम सब योगक्षेम वहन करेंगे। मेरे भय से यह वायु चलती है, मेरे भय से यह सूर्य तपता है, मेरे भय से इन्द्र वर्षा करता है, अग्नि जलती है तथा मेरे ही भय से मृत्यु अपने कार्य में लगा रहता है–

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्।। 42।।

स्कं 3 अ. 25

सार रूप में भक्तियोग द्वारा योगीजन ज्ञान–वैराग्य युक्त होकर शांति प्राप्त करने के

लिए मेरे निर्भय चरणकमलों का आश्रय लेते हैं – ''ज्ञान वैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।''

बिना आत्म दर्शन के अहंकार रूप हृदयग्रन्थि का छेदन सम्भव नहीं है। यह सारा जगत जिससे प्रकाशित है, वह आत्मा ही पुरुष है। देवहुति जी द्वारा पूछने पर भगवान कपिल ने प्रकृति एवं पुरुष का लक्षण विस्तार से बताया है। जिनका विवरण पिछले लेखों में किया जा चुका है। छब्बीसवें अध्याय में भक्ति, वैराग्य एवं योग द्वारा आत्मस्वरूप क्षेत्रज्ञ को इस क्षेत्र रूपी शरीर में जानना ही सर्वोत्तम कर्म बताया गया है।

सत्ताइसवें अध्याय में उपरोक्त वर्णित प्रकृत–पुरुष विवेक द्वारा मोक्ष प्राप्ति का कथन कहा गया है। मनुष्य को उचित है कि असन्मार्ग (विषय चिन्तन) में फँसे चित्त को तीव्र भक्तियोग और वैराग्य के द्वारा धीरे–धीरे अपने वश में लावे। यमादि (अष्टांग योग) योग साधनों के द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्यास द्वारा अपने चित्त को बारम्बार एकाग्र करते हुए मुझमें सच्चा (कपट रहित) भाव रखे, मेरी कथा में प्रीति, समस्त प्राणियों में समभाव, ब्रह्मचर्य, आसक्ति त्याग द्वारा आत्मदर्शी मुनि नेत्रों से सूर्य को देखने की तरह अपने शुद्ध अन्तःकरण द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर उस अद्वितीय ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है –

अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्त मसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम्।। 5।।
यमादिभिर्योगपथैरभ्यसञ् श्रद्धयान्वितः।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च।। 6।।
मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते।
सतोबन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम।। 11।।

स्कं 3 अ. 27

भगवान कपिल ने कहा – माता जी! यदि योगी का चित्त योगसाधना से बढ़ी हुई मायामयी अणिमादि सिद्धियों में, जिनकी उपलब्धि मात्र योग से होता है, नहीं फँसता, उसे मेरा अविनाशी परम पद प्राप्त होता है –

यदा न योगोपचितासु चेतो,
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग।
अनन्यहेतुष्वथ में गतिः स्याद्
आत्यान्तिकी यत्र न मृत्युहासः।। 30।।

चतुष्टय योग साधना

– डॉ. जे. पी. शर्मा, पाँटा साहिब, जि. सिरमौर, हि.प्र.

योग साधना को चतुष्टय योग कहते हैं। इन चारों का अपना अपना प्रथक प्रथक महत्व है। साधकों की सुविधा के लिये इन पर अलग रूप से प्रकाश डाला जा रहा है–

यंत्र योग –

मननात् त्रायते इति मंत्रः। मननत्राण धर्माणो मंत्राः।

अर्थात् मन को मनन की शक्ति यानी मन को एकाग्रता प्रदान करके जप के द्वारा सारे भयों का विनाश करके पूर्ण रक्षा करने वाले शब्दों को ''मंत्र'' कहा जाता है।

''मननात् त्रायते इति मंत्रः''

मनन करने पर जो रक्षा करे, वही मंत्र है। मंत्र के मनन को जप कहा जाता है। अतः अग्नि पुराण में कहा गया है–

जकारः जन्मविच्छेद पकार : पापनाशकः।
तस्माद् जप इति प्रोक्त जन्मपापविनाशकः।।

अर्थात् 'ज' से जन्म मरण का नाश होता है तथा 'प' से पापों का नाश होता है। इसी का नाम जप है। इसी लिये प्राणी को जन्म–मरणों के पापों का समूल विनाश करने के लिये मंत्रों का ज्यादा से ज्यादा जप करना चाहिये। मंत्रों के शब्दों का सही उच्चारण करना चाहिये क्यों कि शब्दों में अतुल्य शक्ति छिपी होती है। मंत्र मानव के मन, मस्तिष्क, शरीर तथा वातावरण को प्रभावित करते हैं। देवर्षिनारद, पुलस्त्य, गर्ग, बाल्मीक, भृगु, बृहस्पति आदि प्रमुख मंत्र योग के आचार्य हुए हैं। मंत्र योग का सिद्धान्त है कि परमात्मा के भाव, भाव से नामरूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इस कारण जिस क्रम से सृष्टि हुई है, उससे विपरीत मार्ग से ही लय होगा, यह निश्चित है। अर्थात् परमात्म से भाव और भाव से नाम–रूप द्वारा जब सृष्टि हुई, जिससे समस्त जीव संसार बन्धन में आ गये हैं, तो यदि मुक्ति लाभ करना हो तो प्रथम नाम रूप का आश्रम लेकर नाम रूप से भाव में और भाव से भावरही परमात्मा में चित्तवृत्ति का लय होने पर ही मुक्ति होगी अतः नाम और रूप के अवलम्बन से महर्षियों ने साधन की विधियाँ बतलायी हैं। इसी का नाम मंत्रयोग है। मंत्र, साधक को मंत्र के अधिष्ठाता देव से जोड़ता है इसीलिये मंत्र अपने को मन्त्रयोग कहा जाता है। योगशास्त्र में–

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्त दवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमाजोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः।।
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।

उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते।।

नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जना :।

अविद्याग्रसिताश्चैव तादृकप्रकृतिवैभवात।।

आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै।।

नाम रूपात्मनोः शब्द भावयोरवलम्बनात्।।

सृष्टि नाम रूपात्मक होने के कारण नाम रूप के अवलम्बन से ही साधक सृष्टि के बन्धन से अतीत होकर मुक्ति पद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमि पर मनुष्य गिरता है उसी भूमि के सहारे से उठा करता है। यह सर्वविदित है। नामरूप विषय जीव को बन्धन युक्त करते हैं अर्थात् जोड़ते हैं। नाम–रूपात्मक प्रकृति में वैभव से जीव अविद्या ग्रस्त हुये रहते हैं। अतः अपनी अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्ति को गति के अनुसार नाम मय शब्द तथा भावमय रूप के सहारे से जो साधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।

मंत्रयोग की महिमा अपार है। वैसे तो मंत्रयोग साधन प्रणाली के अनेकों अंग हैं। परन्तु उनमें से निम्न सोलह अंग मुख्य कहे गये हैं।

भवन्ति मंत्रयोस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।

यशा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडस शोभनाः

भक्ति:शुद्धिश्चासनं च पंचाङ्गस्यामि सेवनम्।

आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि।।

प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।

यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश।।

चन्द्रमा की सोलह कलाओं की तरह मन्त्रयोग भी सोलह अंगों से पूर्ण है। ये सोलह अंग इस प्रकार हैं – भक्ति, शुद्धि, आसन, पंचाग सेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राण क्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, योग, जप, ध्यान और समाधि। व्यक्ति का गुणगान तो सभी शास्त्रों ने खुले कंठ से गाया है। शुद्धि के अनेकों भेद हैं – किस दिशा में मुँह करके साधना करें, इसे दिकशुद्धि कहते हैं। कैसे स्थान पर बैठकर साधना करें, इसे स्थानशुद्धि कहा जाता है। स्नान के बाद की शरीर शुद्धि होती है। सुबह नित्यकर्म से निवृति वाली शौच शुद्धि होती है। शरीर के बाहर की सफाई करने को, बाह्य शुद्धि तथा प्राणायाम आदि के द्वारा आन्तरिक शुद्धि कही जाती है। ऐसे ही चित्त तथा मन की शुद्धि मंत्रों से होती है। आसन में कैसे बैठें – जैसे चैलासन, मृगचर्मासन, कुशासन, इसे आसन शुद्धि कहते हैं। अपने इष्ट की शक्ति का गुणगान करना, गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच, स्तोत्र आदि पंचाग कहे गये हैं। आचार के तंत्र और पुराणों में अनेक भेद कहे गये हैं। मन को बाहर मूर्ति आदि में लगाने से तथा शरीर के भीतर स्थान विशेषों में मन स्थिर रखने को धारणा कहते हैं। सोलह प्रकार के स्थानों में पीठ बनाकर

पूजने को दिव्यदेश कहते हैं। मूर्धास्थान, हृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पाषाणादि की मूर्तियां, स्थण्डिल, यन्त्र आदि। शरीर के विभिन्न अंगों की प्राण साधन को "प्राणक्रिया कहा जाता है। न्यास आदि इसी के अन्तर्गत हैं। अपने इष्टदेवों को प्रसन्न करने की चेष्टायें या संकेत 'मुद्रा' कहलाती हैं। यथा – शंखमुद्रा, योनिमुद्रा आदि। देवों को विशेष पदार्थों से जल के साथ आहुति देने को 'तर्पण' कहते हैं। अग्नि में विशेष सामग्री या अन्य पदार्थों के अर्पण को हवन कहते हैं। उसी प्रकार इष्टदेव को समर्पित करने को बलि कहा जाता है। बलि तीन प्रकार की होती है – आत्मबलि, अहंकारादि, इन्द्रियों की बलि तथा काम क्रोध आदि की बलि। 'याग' दो प्रकार के होते हैं – अन्तर्याग तथा बहिर्याग। अपने इष्टदेव के नाम को बार – बार मुँह से कहने को 'जप' कहते हैं। जप तीन प्रकार का होता है। मुंह से बार–बार नाम जप जब साथ बैठने वाला भी सुन सके, उसे वाचिक जप, दोनों होंठ से धीरे–धीरे नामस्मरण करने को 'उपांशु जप जिसे कोई सुन सके तथा मन ही मन नाम जप या मंत्र जपने को 'मानसिक जप' कहते हैं। इष्टदेव के रूप को मन द्वारा निहारने को ध्यान कहा जाता है। इष्टदेव का ध्यान करते करते अपने आपको तथा बाहरी वातावरण को भूल से जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे समाधि कहकर पुकारते हैं। इसे मन्त्रयोग समाधि भी कहते हैं।

मंत्रयोग साधना में मंत्रों का सही उच्चारण करना परमावश्यक है। उच्चारण में गलती होने से परिणाम विषम भी हो जाते हैं। हमेशा विनीतभाव से याचक बनकर भक्ति–पूजा करें तभी मनोवांक्षित फल प्राप्त हो सकेंगे। मंत्रोच्चारण करते समय मन निश्चल रहे तथा भटके नहीं।

हठयोग –

जैसे नाम रूप का सहारा लेकर साधना करने को मंत्रयोग कहते हैं, उसी प्रकार भौतिक शरीर के सहारे मन की चित्तवृत्तियों के निरोध करने को 'हठयोग' कहा जाता है। मानव इस साधना में अपने शारीरिक पुरुषार्थ के बल पर ही योग साधना का अभ्यास करता है। जैसे बच्चा अपने मां बाप से हठ करके अपनी इच्छापूर्ति कर लेता है उसी प्रकार हठयोग साधना से साधक परमात्मा की समीपता पा लेता है।

हठयोग साधना में 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा माना गया है। इस तरह सूर्य तथा चन्द्रमा के योग को हठयोग कहा जाता है।

हकारः कथितः सूर्यः ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते।।

श्लोक में सूर्य और चन्द्र शब्दों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। एकमत के अनुसार सूर्य का तात्पर्य 'प्राणवायु' तथा चन्द्र का 'अपान वायु' से है। अतः प्राणायाम द्वारा, प्राणवायु तथा अपान वायु दोनों के निरोध करने को हठयोग कहा है। दूसरे मतानुसार सूर्य, 'इडा' तथा चन्द्र 'पिङ्गला नाड़ियों का प्रतीक है। इडा तथा पिंगला नाड़ियों का निरोध करके

हठात प्राणवायु का प्रवेश सुषुम्नामार्ग में कराने को हठयोग कहा गया है। सूर्य तथा चन्द्रमा को अन्य मतों के अनुसार गंगा तथा यमुना भी कहा गया है। जो क्रमशः इडा तथा पिङ्गला नाड़ियों के प्रतीक माने गये हैं। सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने काव्य पद्मावत में नागमती–पद्मावती प्रसंग में राजा रत्नसेन उन्हें समझाता है–

तुम्ह गंगा जमुना दुइनारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दुनहुँ औ मानहु सुख भोग।।

अर्थात् आप गंगा तथा यमुना दोनों नाड़ियों का प्राणायाम द्वारा निरोध करके सुख भोगो।

महर्षि पतंजलि महाराज ने योग दर्शन में योग के आठ सोपान बतलाये हैं जिनमें चार यम, नियम, आसन, प्रत्याहार बाहर के हैं तथा प्राणायाम, धारणा, ध्यान तथा समाधि अन्दर के चार अंग होते हैं। इन आठों अंगों का बड़ा विस्तार है। उन विस्तारों में से मंत्र, हठ, लय तथा राज इन चार श्रेणी के साधनों में इन आठों अंगों में से किसी में किसी अंग पर अधिक ध्यान दिया जाता है तथा किसी–किसी साधन में किसी–किसी दूसरे अंग पर विशेष ध्यान दिया जाता है। शास्त्रों के मतानुसार महर्षि मारकण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिन, पारासर, भृगु, विश्वामित्र आदि ने हठयोग पर प्रकाश डाला है। क्योंकि सूक्ष्मशरीर के भाव के अनुसार ही स्थूल शरीर की रचना होती है तथा सूक्ष्म और स्थूल शरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूल शरीर के कार्यो द्वारा सूक्ष्मशरीर आधिपत्य नहीं किया जा सकता। इसलिए स्थूल शरीर प्रधान योग–क्रियाओं का विकास योग शास्त्र में किया गया है। जिसके द्वारा साधक प्रथम अवस्था में ही स्थूल शरीर की क्रियाओं का साधन करता हुआ उस पर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है तथा उस शक्ति को अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को वश में लाकर चित्तवृत्तियों के निरोध से परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।

हठयोग में परमात्मा को ज्योतियों का ज्योतिः स्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूप की कल्पना करके ध्यान का अभ्यास करने की व्यवस्था है। मन्त्रयोग समाधि में नाम रूपों की सहायता से समाधि लाभ करने की व्यवस्था है तथा हठयोग में वायुनिरोध के द्वारा मन को वश में करके समाधि लाभ की विधि है। मंत्रयोग समाधि को महाभाव और हठयोग समाधि को महाबोध समाधि कहा जाता है।

षट्कर्मासन मुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य।।

षटकर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि – हठयोग के सात अंग है। इन सब अंगों के साधन द्वारा क्या–क्या लाभ मिलते हैं, निम्न प्रकार है–

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद दृढम्।
मुदया स्थिरता, चैव प्रत्याहारेण धीरता।।

प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिश्चैव न संशय।।

षटकर्म द्वारा शरीर शोधन, आसन के द्वारा दृढ़ता, मुद्रा के द्वारा स्थिरता, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम साधनों द्वारा लाधव, ध्यान द्वारा आत्मसाक्षात्कार तथा समाधि द्वारा निर्लिप्तता तथा मोक्षलाभ प्राप्त होता है। इन लाभों के अतिरिक्त मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लाभ प्राप्त होते हैं। धोति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति ये छहों क्रियायें षटकर्म कही जाती हैं। हठयोग में बैठने के कुल तैंतीस आसन होते हैं। उनकी अलग–अलग क्रियायें हैं। हठयोग में आठ प्रकार के प्राणायाम – सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवली हैं। इसी प्रकार पच्चीस प्रकार की मुद्रायें कही गयी हैं। ये मुद्रायें मन तथा वायु को वश में रखती हैं। प्रत्याहार, ध्यान तथा समाधि लाभ देने में मुद्रायें सहायता करती हैं।

सन्त नूर मुहम्मद साहब ब्रह्म की प्राप्ति के लिए 'अहंभाव' के त्याग को आवश्यक मानते हैं। कहते हैं योग साक अपनापन, निजता, अहंकार भाव को भुलाकर ध्यान करे तथा अपने गुरु को समर्पित हो जाय, उसे निश्चित ही सफलता मिलेगी।

जब लगि है आपा महँ कोई। तब लगि ताको दरस न होई।
ध्यान लगाये करे तपस्या। तजै दर्प चित देई नमस्या।।
ध्यान दिये नित्त रहै अकेला। होइ सनेह गुरुप का चेला।।
अन्तःकरन करै निरमला। उवै लवै रवि सोलह कला।।

सन्त मलिक मुहम्मद जायसी ने द्वैतभाव त्यागने पर जोर दिया है –

एकहि तें दुइ होय, दुइ सों राज न चलि सकै।
बीच तें आपुहिं खोय, मुहम्मद एकहि होय रहु।।

लय योग –

ब्रह्मपद प्राप्ति के कारण भूत लययोग का सिद्धान्त, ऋषि आङ्गिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, वसिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि ने बनाया।

प्रकृति–पुरुष के श्रृंगार से उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध से ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व–सम्बन्ध से युक्त हैं। अतः ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष, सब का स्थान समान रूप से ब्रह्माण्ड और पिण्ड में है। पिण्डज्ञान से ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। अतः प्रकृति को पुरुष के साथ लय करने से ही लययोग कहा जाता है। पुरुष का स्थान सहस्रार में होता है। सहस्रार खोपड़ी में स्थित है। प्रकृति मूलाधार चक्र में स्थित सर्पनाड़ी को कहते हैं जिसे योगी कुण्डलिनी नाड़ी के नाम से पुकारते हैं। यह नाड़ी अपनी पूँछ को अपने मुँह में दबाकर साढ़े तीन कुण्डलीवार चक्र मार के सुप्त अवस्था

में रहती है। यह नाड़ी प्राणी के जीवन के सारे राज छिपाये रहती हैं। इसमें ब्रह्माण्ड की अतुलित शक्तियाँ होती हैं। वास्तव में शरीर की चेतना शक्ति इसी नाड़ी में समाहित रहती है। कुण्डलीकार नाड़ी एकाकी जीवन व्यतीत करती रहती है तब तक सारे राज छिपे रहते हैं। जब कोई साधक इसे मंत्रयोग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोग के साधनो द्वारा छेड़ देता है तब जैसे सोई नागिन फन्कार मारती है उसी प्रकार बड़े वेग से फुन्कार मारती हुई अपने मुँह से पूछ को छोड़ देती है तथा शरीरस्थ सारे छहों चक्रों का भेदन करने के लिए 'सुषुम्ना' नाड़ी में चढ़ने लगती है। चक्रो भेदन करते करते आज्ञा चक्र में स्थित 'पुरुष' अर्थात् 'शिव' से इस नाड़ी का मिलन होता है। एक बार प्रकृति तथा पुरुष का मिलन होकर ये सहस्रार में बड़े आनन्द पूर्वक रहते हैं। साधक उस अवस्था में ज्ञान का अथाह भण्डार भरने लगता है। इसी प्रकृति (कुण्डलिनी) तथा पुरुष (शिव) के मिलन को लययोग कहते हैं। योग शास्त्रों में लय योग के नौ अंग बताये हैं। यथा –

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविद:।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा।।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवांगानि लययोगस्य निश्चितम।।
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।।
वायु प्रधाना सूक्ष्मा स्याद्धयानं बिन्दुमयं भवेत।।
ध्यानमेतद्धि परमं लय योग सहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया।।
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली।।
प्रबुद्धय तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशय।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधक:।।
लयक्रियाया: संसिद्धौ लयबोध: प्रजायते।
समाधियेंन निरत: कृतकृत्यो हि साधक:।।

लययोग के नौ अंग होते हैं – यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्मक्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि। स्थूलशरीर प्रधान क्रिया को 'स्थूल क्रिया तथा वायु प्रधान क्रिया को 'सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति पुरुषात्मक ध्यान को बिन्दु ध्यान कहते हैं। यह ध्यान लययोग के लिये आवश्यक होता है। सूक्ष्मसर्वोत्तम क्रिया जो केवल जीवन मुक्त योगियों की कृपा से प्राप्त होती है, उसे 'लय क्रिया' कहते हैं। लयक्रियाओं के कारण सोई हुई सर्पिणीवत कुण्डलिनीमहाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है। फलस्वरूप प्राणी 'शिवत्व प्राप्त कर

लेता है। लयक्रिया सिद्ध होने से महासमाधि लग जाती है। इससे साधक कृतकृत्य हो उठता है।

यम साधना के द्वारा शरीर के बाहरी इन्द्रियों को वश में किया जाता है। अन्दर की इन्द्रियों को वश में लाने को नियम कहते हैं। हठयोग की तरह तैंतीस आसनों में से कुछ आसनों का साधन, पच्चीस मुद्राओं में से कुछ थोड़ी सी मुद्राओं का साधन – ये सब लययोग की 'स्थूल क्रिया' कहलाती हैं। इसी प्रकार हठयोग के आठ प्राणायामों में से कुछ प्राणायाम तथा स्वरोदय आदि की क्रियायें लययोग के अनुसार 'सूक्ष्म क्रिया' कहलाती हैं। 'प्रत्याहार' से मन शुद्ध होता है। प्रत्याहार सिद्धि से प्राणी 'नाद सुनना' आरम्भ कर देता है अर्थात् उसे नाद सुनाई देने लगता है। शरीर में नेचि मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धिचक्र तथा आज्ञाचक्र होते हैं। कुण्डलिनी महाशक्ति जागने पर आज्ञा चक्र में आकर शिव से संयोग करके सातवें सहस्रदल कमल वाये चक्र सहस्रार में आनन्दपूर्वक वास करती है। साधक के ज्ञान के आवरणों से अज्ञानता के पर्दे हठ जाते हैं – तत क्षीयते प्रकाशावरण अर्थात् अंधकार के पर्दे जो 'ज्ञान' को ढके रहते हैं का समूल विनाश हो जाता है। अतः योग साधक मुक्तयोगी बन जाता है।

लययोग के ध्यान को बिन्दु ध्यान कहा गया है। मंत्रयोग में रूप कल्पना द्वारा ध्यान किया जाता है। हठयोग में ज्योति कल्पना द्वारा ध्यान किया जाता है। परन्तु लययोग में कल्पना नहीं की जाती। लययोग का साधक योग साधनाओं द्वारा अन्तर्जगत में एक आलौकिक बिन्दु का दर्शन करता हुआ ध्यान स्थिर करता है उसे ही बिन्दुध्यान कहते हैं। लययोगी सारे ब्रह्माण्ड को अपने शरीर में देखने की क्षमता रखता है। क्योंकि शरीर और ब्रह्माण्ड की रचना एक जैसी ही है। यही कारण है कि हमारे पूज्य महर्षि मृत्युलोक में रहते हुए ब्रह्माण्ड के रहस्यों का पता लगा लेते थे।

राजयोग –

राजयोग को समस्त योगसाधनाओं का राजा कहा गया है। राजत्वात सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः। राजयोग के लक्षणों के विषय में शास्त्रों में कहा गया है –

सृष्टिरिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्सहायात साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः।।
अन्तःकरणभेदास्तु मनो बुद्धिरहंकृतिः।
चित्त चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः।।
तदन्तःकरणं दव्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमतेत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्।।

'सृष्टि' स्थिति तथा लय का कारण अन्तःकरण ही है। उसकी सहायता से जिसका ध्यान किया जाता है, उसे राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अन्तःकरण के चार

भेद होते हैं। अन्त:करण दृव्य और आत्मा दृष्टा है। अन्त:करण रूपी दृश्य में जगदवी कार्य दृश्य का कार्यकारण सम्बन्ध है। दृश्य से द्रष्टा का सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है। चित्त वृत्ति की चंचलता ही इसका कारण है। वृत्तियों पर विजय प्राप्त करके अपनी आत्मा का अवलोकन ही राजयोग कहलाता है। राजयोग साधना में विचार बुद्धि की बड़ी महत्ता है। अत: विचारशक्ति की पूर्णता द्वारा राजयोग का साधन होता है। राजयोग के ध्यान को 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं। राजयोग से प्राप्त समाधि को 'निर्विकल्प' समाधि कहते हैं। राजयोग से सिद्धि प्राप्त कर साधक 'जीवन्मुक्त' हो जाता है।

महाभाव (मंत्रयोग की समाधि) प्राप्त योगी, महाबोध (हठयोग की समाधि) प्राप्त योगी, तथा महालय (लययोग की समाधि) प्राप्त योगी तत्व ज्ञान की सहायता से राजयोग साधना में अग्रसर होते हैं। इसलिए राजयोग सब योग साधनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। इसी कारण इस साधना को राजयोग कहते हैं।

राजयोग के सोलह अंग होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

कलाषोडशकोपेतराजयोस्य षोडश।
सप्त चांगानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारत:।।
विचारमुख्यं तज्ञेयं साधनं बहु तस्य च।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदत:।।
ध्यानस्य त्रीणि चांगानि विदु: पूर्वे महर्षय:।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्।।
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिन:।।
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुन:।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश।।
कृतकृत्यो भवत्यासु राजयोगपरो नर:।
मन्त्रेहठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नत:।
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नर:।।

राजयोग के अंग – षोडशकलाओं से पूर्ण राजयोग के सोलह अंग हैं। 'सात', ज्ञान भूमिकाओं के हैं, जो विचार प्रधान हैं। इनके साधन अनेक प्रकार के हैं। 'धारणा' के दो हैं – एक प्रकृति धारणा तथा दूसरी ब्रह्मधारणा। 'ध्यान' के तीन अंग हैं – विराट ध्यान, ईश ध्यान तथा ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यान में ही सबकी समाप्ति है। समाधि के चार अंग हैं – दो सविचार तथा दो निर्विचार। इस प्रकार से राजयोग के सोलह अंगों के साधन द्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग – इन तीनों में सिद्धि लाभ के बाद अथवा किसी एक में सिद्धि लाभ

करने के अनन्तर साधक को राजयोग का पूर्णाधिकार प्राप्त होता है।

राजयोग की साधना धारणा तथा ध्यान से ही आरम्भ होती है। राजयोग की साधन भूमि प्रधानतः समाधि भूमि ही है। समाधि भूमि में पहले वितर्क रहता है, तदन्तर आगे बढ़ने पर विचार रहता है। उससे आगे की अवस्था का नाम आनन्दानुगत अवस्था है तथा उससे भी आगे की अवस्था को अस्मितानुगत अवस्था कहते हैं। विशेषलिंग, अविशेषलिंग, लिंग तथा अलिंग – ये चार भेद के दस्य होते हैं। अलिंग तक त्यागने योग्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ, यह भाव भी निर्विकल्प समाधि में नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न बचे, वही 'तुरीयावस्था' है। जिनको अनुभूति हो चुकी है, ऐसे ही जीवनमुक्त सद्गुरुदेव उसका भेद बताने में समर्थ हो सकते हैं। यथा राजयोग संहिता के अनुसार –

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्तः।।
समाधि भूमौ प्रथमं वितर्क किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता।।
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते।
विशेषलिंग, त्वविशेषलिंग, लिंग तथालिंगमिति प्रभेदान्।।
वदन्ति दश्यस्य समाधि भूमि, विवेचनायां पठवो मुनीन्द्राः।
हेया अलिंगपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्।
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।।
क्षीयते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः।।
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हिलभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्।।

राजयोग की साधना का यही क्रम है कि ज्ञान की सात भूमिकाओं को क्रमानुसार करता हुआ जैसे मनुष्य सोपान द्वारा छत पर चढ़ जाता है उसी प्रकार ज्ञान की सात भूमिकाओं का रहस्य समझ सकता है। धैर्य के साथ साधनारत रहने की आवश्यकता होती है। उसके पश्चात् सौभाग्यवान योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृति–पुरुषात्मक दो राज्य के दर्शन करके उनकी धारणा से अनन्त रूपमय प्रपंच की विस्मृति सम्पादन करने में समर्थ होता है। यही राजयोग के अष्टम तथा नवम अंग का साधन क्रम है। उसके बाद वह योगीराज परिणामशील प्रकृति के स्वरूप को सम्पूर्ण रूप से जानकर ब्रह्म, ईश या विराजरूप में अद्वितीय सत्ता का दर्शन करके ध्यान भूमि की पराकाष्ठा में पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अंगों में से दशम, एकादशम और द्वादश अंग का साधन क्रम है। उसके बाद भाग्यवान योगाचार्य यथाक्रम

वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत – इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (महाभाव, महाबोध, महालय) समाधियों का अतिक्रमण करते हुए स्व–स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। इसी को जीवन्मुक्त दशा कहते हैं।

राजयोग प्राणायाम –

महर्षि पतंजलि महाराज ने योग दर्शन में कहा है –

वाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ।। (योगदर्शन, सा.पा. 2.51)

बाहर और भीतर के विषयों का त्याग करने से अपने आप होने वाला चौथा प्राणायाम ही 'राजयोगप्राणायाम' है। अर्थात् इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं या भीतर जा रहे हैं अथवा चल रहे हैं या ठहरे हुये हैं। इस जानकारी का त्याग करके मन को इष्ट चिन्तन में लगा देने से देश, काल और संख्या के ज्ञान के बिना ही अपने आप जो प्राणों की गति जिस किसी शरीर स्थान में रुक जाती है, वह चौथा प्राणायाम है। यह प्राणायाम अन्य प्राणायामों से सर्वथा भिन्न है। यह अनायास होने वाला राजयोग प्राणायाम है। इससे मन की चंचलता रुकने के साथ–साथ प्राणों की गति रुक जाती है। अत: प्राणों का निरोध ही राजयोग का मुख्य लक्ष्य है। ऐसा होते ही–

''तत क्षीयते प्रकाशवरणम्।।''

अर्थात् उस प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश अर्थात् ज्ञान पर पड़ा हुआ अंधकार रूपी आवरण हट जाता है। योगी साधक कृतकृत्य हो जाता है।

मेरे परम श्रद्धेय योगयोगेश्वर अनन्त विभूषित योगीराज श्री श्री 1008 श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के पावन चरण कमलों में साष्टांग कोटि कोटि नमन तथा सभी गुरुभाईयों को जयगुरुदेव!

आवश्यक सूचना

सिद्धयोग पत्रिका के आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि जो सन् 2002 से पूर्व के ग्राहक हैं, वे कृपया रु. 900/– पुन: जमा कर दें ताकि उनकी पत्रिका नियमित भेजी जा सके। अन्यथा पत्रिका रोकी जा सकती है। इसकी सूचना 2013 में दे दी जा चुकी है। जिनमें से कुछ भाईयों ने जमा करा दिया है किन्तु कुछ भाईयों ने जमा नहीं किया है। अत: जिन भाईयों ने पुन: जमा नहीं किया है कृपया रु. 900/– अविलम्ब सम्पादक के नाम एम.ओ. (मनीआर्डर) से भेज दें। जय गुरुदेव की।

– संपादक
'सिद्धयोग' पत्रिका

ईश्वर

– स्वामी श्री देवेन्द्रानन्द गिरि

योग–दर्शन केवल ईश्वर को ही नहीं मानता अपितु योगी को ईश्वर भक्ति करने से ईश्वर का दर्शन, योग–मार्ग पर आने वाले विघ्नों का नाश तथा अन्त में अपने आत्मा का दर्शन भी होता है। तो भी उसकी मान्यता रहती है। योगदर्शनकार की यहाँ अद्वैत स्थिति का अमनीभाव का, असंप्रज्ञात समाधि का एक उपाय ईश्वर, प्रणिधान मानने से हृदय की निर्मलता, निष्पक्षता,सत्यनिष्ठा, सर्वश्रेष्ठता व्यक्त हुई है। अतः योगदर्शन में अन्य साधनों के साथ–साथ ही ईश्वरोपासना स्वीकृत करना उसकी विशिष्टता तथा महानता है। इन सारी बातों को यथायोग्य समझने के लिए हम योग–दर्शन में आये ईश्वर विषयक सूत्रों का संक्षेप से अर्थ करते हुए प्रथम ईश्वर का स्वरूप बताते हैं।

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने पुरुष–विशेष रूप ईश्वर को स्वीकार किया है। यहाँ पुरुष विशेष से ईश्वर को एक असामान्य विलक्षण पुरुष ही माना है। अतः सॉख्य के 25 तत्व ही योग में हैं ईश्वर नाम का दूसरा अलग कोई 26 वाँ तत्त्व नहीं स्वीकृत किया है। योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु कहते हैं– तथा च ईश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भाव:। जिस प्रकार योग में पुरुष अनेक मानने पर भी अर्थात् प्रत्येक पुरुष की अन्य के साथ विलक्षण कुछ न कुछ भेद होने पर भी एक ही पुरुष सबको कहलाते हैं अन्यथा योग में अनेक तत्त्व हो जाते। वैसे ही ठीक ईश्वर का पुरुष में ही योग में अन्तर्भाव होने से ईश्वर कोई 26 वाँ तत्त्व नहीं है। यथा पुरुष शुद्ध अपरिणामी,निर्विकार, निर्गुण–त्रिगुणातीत, चिन्मात्र, चेतन, असंग, निर्लेप, क्लेशरहित, धर्माधर्म–सम्पर्क–रहित, जात्यायुर्भोग रूप, उपसर्गों से रहित, कूटस्थ तथा नित्य है ठीक ईश्वर भी ऐसा है। पर ईश्वर में कुछ अन्य पुरुषों से विशेषतायें मानी गई हैं वे इस प्रकार हैं–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुष विशेष ईश्वरः। (यो. सू. 1/24) ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय, इनके परामर्श से रहित है। यहाँ ज्ञातव्य है कि यद्यपि सभी पुरुष क्लेशादि धर्म तथा उनके सम्बन्ध से निर्लेप, रहित ही होते हैं तथापि साधारण लौकिक पुरुषों में स्वात्माज्ञान से 'क्लेशादय मनसि वर्तमानाः पुरुषा व्यपदिश्यन्ते' (व्यास भाष्य) क्लेश, कर्म, विपाक और वासनाओं का ज्ञान यद्यपि बुद्धि में रहता है तथापि बुद्धि में प्रतिबिम्बित उपहित पुरुष में उपचरित होता है, जिससे पुरुष अहं दुःखी, अहं सुखी, अहं कर्ता, अहं भोक्ता इत्यादि मानता है यही क्लेशादिका जीव में परामर्श है, यही भोगोपचार है जो अज्ञानता से है वास्तविक नहीं किन्तु ईश्वर में इस तरह का क्लेशादिका परामर्श, भोगोपचार कभी भी नहीं होता है। ईश्वर सदा अपरामृष्ट परामर्श रहित है– सतु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इति। व्यास भाष्य। अतः बद्ध–जीवात्मा से ईश्वर की यह विशेषता हैं–1. प्राकृतिक बन्ध – अष्टप्रकृतिषु अभिमानरूपः

(योगवार्तिक) अव्यक्तादि 8 प्रकृति में अभिमान होना। 2. वैकारिकबन्ध – शब्दादिविषयराग: (योगवार्तिक) शब्दादि 5 विषय में आसक्त होना। 3. दक्षिणाबन्ध – गृह–स्थानां कर्मदक्षिणादानादिषु अनुराग– कर्म, दक्षिणा, दान आदि कर्मों में आसक्त रहना।

उपरोक्त तीनों बन्धन बद्ध पुरुष में होते हैं। मुक्त पुरुष में नहीं होते फिर भी ईश्वर इन मुक्त जीवात्माओं से भिन्न है क्योंकि भूतकाल में सर्वमुक्त जीवात्मा बद्ध थे पर ईश्वर तो तीनों काल में सदैव मुक्त ही रहता है, और जो अभी प्रकृतिलीन पुरुष हैं वे भविष्य में बद्ध दशा को प्राप्त होते हैं अतः ईश्वर उनसे भी अलग है। इस तरह की सार्वकालिक नित्यामुक्तत्व का तथा नित्य ऐश्वर्य का ईश्वर में होने का कारण यह है कि जीवात्मा का चित्त अशुद्ध सत्वगुण से बना है पर ईश्वर का 'प्रकृष्टसत्वोपादानात्' भाष्य प्रकृष्ट – विशुद्धं रजस्तपः सम्पर्क शून्यं। अर्थात् शुद्ध सत्वगुणी उपाधि से युक्त होने के कारण ईश्वर सदा मुक्त रहता है। यहाँ बात तत्ववशारदी में वाचस्पति मिश्र और स्पष्ट लिखते हैं – ''सत्व प्रकर्षमुपादत्ते भगवान् अपर मृष्ट ऽप्यविद्यया' अविद्या रहित शुद्ध सत्व चित्तवान् ईश्वर है। वाचस्पति मिश्रजी प्रकृति ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही सृष्टि तथा विकास की प्रक्रिया और अन्त में प्रलय को करती है यह बात तत्व वैशारदी में भगवान जगत्संहार आदि वचनों से स्पष्ट होती है। अतः ईश्वर को एक ही माना गया है। अन्यथा यदि दो ईश्वर होते तो प्रकृति का तथा जीवात्मा विषयक किये यह जीव मुक्त हो इत्यादि संकल्पों का कोई भी कार्य पूरा नहीं हो पाता। क्योंकि दूसरा ईश्वर उसके विपरीत संकल्प कर देता, अतः योग ईश्वर के समान अथवा ईश्वर से अधिक ऐश्वर्यवान्, शक्तिशाली किसी अन्य ईश्वर को अथवा जीव को नहीं माना गया है। यही बात 'यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्य' स एव ईश्वरः।' इस वचन से स्पष्ट बताई गई है। अतः योगदर्शन ईश्वर को एक सर्व ऐश्वर्यवान् शक्तिमान् स्वीकृत करता है। ईश्वर की मुक्तता का तथा नित्य ऐश्वर्यता मे सूत्रकार स्वयं हेतु देते हैं–

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।' यो. सू. 1/25

भूत, भविष्य, वर्तमान कालिक अतीन्द्रिय ज्ञान की तथा इन्द्रिय गोचर ज्ञान की अन्तिम पराकाष्ठा ही सर्वज्ञता है। जो ईश्वर में सदा नित्य रहती है। कहा भी है –

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः स्त्रष्टच्त्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्त्वमेव च। अव्यानि दशैतानि नित्य तिष्ठंति शंकरे।

– वायुपुराण

सर्वज्ञा, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपः सत्य, क्षमा धैर्य, सृष्टि उत्पन्नशीलता यथार्थ स्वात्मबोध, सबकी आधारता, निर्विकारता ये दस बातें ईश्वर में रहती हैं, इसीलिए सूत्र में कहा है – ''निरतिशय–निर्गतः अतिशयः यस्मात् तत्।'' जिससे बढ़कर और सर्वज्ञता कहीं नहीं है, जो कि सर्वज्ञता की अन्तिम पराकाष्ठा सदा ईश्वर में रहती है। ऐसा ऐश्वर्यवान् ज्ञानी ईश्वर में अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी जीवों की दया–कृपावश प्राणियों को ज्ञान तथा धर्म का उपदेश

करता और उन्हें अपने उद्धार के संकल्प द्वारा मोक्ष में स्थित करता है।

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति।

भाष्य – इसी बात को स्वयं भगवान गीता में बताते हैं –

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा, पुराप्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्म योगेन योगिनाम्॥

भगवान प्राचीन सर्व गुरुओं को ज्ञान–प्रदायक होने से सभी गुरुओं का आदि गुरु माना गया है। सूत्रकार स्पष्ट बताते हैं – 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (यो.सू. 1/26)। प्रत्येक सृष्टि के आदि अनादित्वात् विद्यमान् होने से ईश्वर सभी ज्ञानोपदेष्टाओं का गुरु है। ईश्वर अनादि ज्ञानैश्वर्य से युक्त है। जीव को आत्म–दर्शनरूप निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि यदि वह ईश्वर की उपासना करता है तो उससे भी होती है। सूत्रकार स्पष्ट करते हैं – 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो. सू. 1/23 यदि ईश्वर प्रणिधान करके ईश्वर प्रसन्न किया जाय, तो उनकी कृपा से जल्दी ही समाधि लाभ होता है। साधक एक ईश्वर के ही प्रेम से भक्ति करें, तन–मन धन से समर्पण करें तथा प्रत्येक कर्म उनकी पूजा समझकर ही निष्काम भाव से करें यही ईश्वर प्रणिधान हैं। भोजराज अपने राजमार्तण्डवृत्ति में यही अर्थ करते हैं – 'प्रणिधानं भक्तिविशेषो, विशिष्टमुपासनं, सर्वक्रियाणां तदर्पणं, विषय सुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन्, परमगुरावर्पयति तत्प्रणिधानम्' राज. वृत्ति।

इस तरह उपासना करने से भगवान प्रसन्न होते हैं, फिर उनके संकल्पमात्र से ही साधकों को समाधि–लाभ होता है। 'तदभिध्यानमात्रादपि योगेन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधि फलं भवति' (भाष्य)। ईश्वर के प्रणिधान का साधन भी स्वयं सूत्रकार ही बताते हैं – 'तस्य वाचकः प्रणवः' यो. सू. 1/27 जिस शब्द से भगवान की उत्कृष्ट रूप से स्तुति भक्ति की जाती है, उसे प्रणव कहते है। – 'प्रकर्षेण नयते स्तूयते इति प्रणवः।' प्रणव यानी ओंकार इस ओंकार का और ईश्वर का शब्दार्थ होने के कारण अनादि वाच्य–वाचक नित्य सम्बन्ध है – 'ओंकारेश्वरयोश्च वाच्य वाचक भावलक्षणः सम्बधो नित्यः संकेते न प्रकाश्यते न तु केनचित् क्रियते' (राज वृत्ति)। ऐसे ओंकार का जप करते हुए योगी ईश्वर की भावना भी करे – 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्।' (योगसूत्र 1/28)। जिससे ओंकार के जप को ईश्वर के ध्यान से संपुटित ईश्वर प्रसन्न होकर संकल्प मात्र से साधक पर कृपा करता है, जिससे समाधि की प्राप्ति होती है।

ततः ईश्वरः समाधि तत्फललाभेन तमनुगृह्णाति।

(योगवार्तिक)

इस प्रकार ईश्वर के अनुग्रह सम्पूर्ण विघ्नो का नाश होकर समाधि–प्राप्ति द्वारा जीवात्मा को अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं – 'ततः प्रत्यक्

चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' योगसूत्र 1/29। सूत्रस्थ अपि शब्द से यह भी सिद्ध होता है कि योगी को ईश्वर का दुर्शन भी होता है। अतः ईश्वर का साक्षात्कार की प्रत्यक्षता भी योगी को उपासना से होती है। इस प्रकार ईश्वर भक्ति से आत्म–साक्षात्कार में आने वाली बाधाओं का नाश होकर अन्त में आत्म–साक्षात्कार भी हो जाता है। जैसाकि योगी को ईश्वर का शुद्ध, त्रिगुणातीत, क्लेश–रहित, सम्पर्कहीन, कूटस्थ, असंग, निर्लेप हुआ था ठीक वैसे ही ईश्वरवत् क्लेशादि रहित शुद्ध अपनी आत्मा का दर्शन होता है। शंत्रस्थ प्रत्यक् चेतनाधिगमः' पद का शुद्धि बुद्धि उपहित अपने चेतन आत्मा का है। – 'विषयप्रातिकूल्येन स्वातःकरणभिश्चिति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक् तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति' राम.।

तात्पर्य ईश्वर की कृपा से भी मोक्षप्रद वृत्ति निरोध होकर योग अर्थात् समाधि हो जाती है, जिससे 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' योगसूत्र 1/3। जीवात्मा की स्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाती है। योगी शक्ति, रूप, बुद्धि से अश्रित संप्रज्ञात समाधि से परे बुद्धि का आश्रय त्याग करके साक्षात् अपरोक्ष चैतन्य स्वरूप पुरुष तत्व को अर्थात् आत्म–तत्व को यथार्थ जान लेना है यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वोत्कृष्ट अवस्था अमनी भाव की स्थिति है। भगवान कहते हैं –

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।

– गीता 6/20

इस प्रकार योग में ईश्वर का स्वरूप तथा दर्शन और ईश्वर के अनुग्रह से पूर्णावस्था का निर्विकल्प समाधि का सिद्ध होना आत्म–दर्शन के मार्ग पर आने वाली बाधायें निवृत्त होना आदि सारी बातों को स्वीकार किया गया है।

आत्मा नित्य चेतन स्वरूप है और जो चेतन है वही आनन्द है। हमें चेतना तो प्रतीत होती है, किन्तु आनन्द प्रतीत नहीं होता क्योंकि उस चेतन आत्मा का स्वरूप आच्छादित हो रहा है यदि अज्ञान का आच्छादन हट जाय तो आनन्द प्रतीत होने लगेगा। आतमा परमात्मा का ही अंश है। परमात्मा आनन्दघन है। इसीलिए उसे सत् चित् आनन्द कहते हैं। सत् माने परमात्मा, चेतन माने ज्ञान स्वरूप बोध स्वरूप। परमात्मा के सिया संसार में कोई वस्तु है ही नहीं। संसार का बिल्कुल अभाव करके संकल्प रहित होकर उस निर्गुण–निराकार परमात्मा का ध्यान करें।

गुरु भक्ति से ओतप्रोत

– श्रीमती शारदा सिसौदिया, विष्णुपुरी मेन इन्दौर (म.प्र.)

साकार कल्पना की गोद में उड़ान भरता

मानव मन की परिकल्पना

(1) तुम शांति चंदन
रूप निकेतन
सारगर्भित पावन पावन
प्रभु दर्शन करता
सुखद हरपल हरक्षण, तुम शांति चंदन रूप निकेतन पावन पावन

(2) सांसारिक बंधनों की कटुता
से चीर चीर होता मन
क्षार क्षार होता जीवन
मिलता प्रभु से संबल
जीवन बनता मधुबन – तुम शांति चंदन रूप निकेतन घट नंदन

(3) जब अस्थिर होता मन
विचलित होता जीवन
हृदय करता क्रंदन
तुमसे सहारा था
बनता बीर वीर मन – तुम शांति चंदन –घट नंदन पावन पावन

(4) जीवन की कँटीली राहों में
आहत हो चुपके चुपके
रुदन करता मन
संबंधों की टूटती कड़ियाँ
मिलता आपका दृढ़ अवलंबन
पुनः चल पड़ते हमारे कदम – तुम शांति चंदन शीतल शीतल

(5) जब मुरझाती जीवन बगिया
तुम्हारी योग सुधा से सिंचित हो
नाना रंग बिरंगे फूलों से
महक जाती जीवन बगिया
हम धन्य हो जाते
जीवन बनता सरस नंदन–वन
विचारों को मिलता संबल
हृदय करता आपका बार–बार अभिनंदन
झुक झुक करते आपका चरण–वंदन
तुम शांति चंदन रूप निकेतन घट– नंदन
सारगर्भित तुम्हारा दर्शन – पावन पावन
मन करता प्रभु भक्ति का आलिंगन।।

श्री योग साधन आश्रम का वार्षिक महोत्सव

सभी गुरुभाई बहिनों को सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि योग साधन आश्रम रेलवे मार्ग ऋषिकेश का वार्षिक उत्सव इस वर्ष 6, 7 व 8 जून 2014 को होना निश्चित है। सभी गुरुभाई बहिनों से निवेदन है कि उत्सव में अवश्य आकर सत्संग का लाभ लें व पुण्य के भागी बनें।

जय गुरुदेव !

सचिव
श्री विशन चन्द गर्ग

निवेदक
आचार्य पूर्ण चन्द शर्मा
रेलवे रोड ऋषिकेश
उत्तराखण्ड

माया का गुणकर्म विभाग क्या है ?

– प्रो. ऋषिराम शर्मा

संसार के मायिक बन्धन से मुक्ति पाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इस आश्चर्यमयी माया को जानें। यह अत्यन्त कठिन तथा दुरूह कार्य है। केवल मायाधीश परमात्मा ही अपनी इस त्रिगुणात्मिका माया को पूर्णरूपेण जानते हैं तथा अन्य कोई भी शरीरधारी ज्ञानचक्षु के बिना मायिक रहस्यों को नहीं समझ सकता। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गताः न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।

अर्थात् प्रकृतिरूपी माया से उत्पन्न तीन गुणों का खेल अत्यन्त विचित्र तथा निराला है। इस संसार की प्रत्येक स्थूल तथा सूक्ष्म वस्तु गुणपरिणामों से उत्पन्न हुई है। इस रचना के पीछे कारण–कार्य की अनन्त श्रृंखला है जोकि अज्ञात है। अतः साधारण बुद्धि से इस गुणमयी माया को समझना तथा उसके गुणबन्धन से मुक्त होना असम्भव है। इस माया पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है मायाधिपति परमात्मा की शरणागति। मनुष्य की बुद्धि स्वयं माया की उपज यानि कार्य है अतः माया के स्वरूप को समझने में सर्वथा असमर्थ है, क्योंकि यह अटूट सिद्धान्त है कि कार्य अपने कारण का पता नहीं लगा सकता। जैसे कि समुद्र से उत्पन्न नमक समुद्र की गहराई का पता नहीं लगा सकता, पुत्र अपनी उत्पत्ति से पूर्व के पिता के जीवन को नहीं देख सकता। मनुष्यों के लिए माया अनादि तथा अन्तरहित है। उनकी बुद्धि न तो उस आत्मा को जान सकती है जिसका अवलम्बन लेकर माया ने द्वैतसृष्टि रची है और न उस परमात्मा को जो इस सृष्टि का मूल कारण है तथा अधिष्ठान है इस संसार का मूल अपादान कारण भी मायारूपी प्रकृति है, इसलिए वेदवाणी का कथन है कि –

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
एतस्यैव अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।
प्राणादिभिः अनन्तैश्च भावैः एतैः विनिर्मिता।
माया ह्येषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम्।।

अर्थात् सृष्टिरचयिता प्रकृति ही माया है और परमेश्वर इसका मायाधीश है। इसके ही अनन्तविस्तार वाले अवयवों से यह सम्पूर्ण चर तथा अचर जगत व्याप्त है। प्राणशरीरों से लेकर अनन्त मायिक भावों से इसका विस्तार हुआ है। अतः सम्पूर्ण संसार उस सर्वव्यापी परमात्मा की माया ही है जिसके द्वारा वह स्वय अनन्त जीवात्माओं के रूप में सम्मोहित है। यह मायावी संसार उस अनन्त विस्तार वाले वृक्ष के समान है जिसका अविनाशी मूल सर्वोपरि परमात्मा में है और शाखायें नाना दिव्य लोकों में व्याप्त हैं। इसके बन्धन से मुक्ति का एकमात्र उपाय है कि गुणविकारों तथा विषयाकर्षण में निरासक्तिभावरूपी अस्त्र से गुणबन्धनों तथा कर्मबन्धनों को काटकर अपने को मुक्त करे तथा उस मोक्षपद की खोज करे जिसे पाकर पुनः मायिक बन्धन में न फँसे। इस लक्ष्य के लिए उस अनादि तथा अव्यय परमात्मा के समक्ष आत्मसमर्पण करना होगा जिसके सर्वव्यापी सच्चिदानन्द स्वरूप से माया का विस्तार हुआ है। परमात्मा ने इस संसार को क्यों और कैसे बनाया इसका उत्तर हमारी बुद्धि तो नहीं दे सकती किन्तु शास्त्रों में संकेत मिलते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है कि –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।

अर्थात् परमात्मा सभी प्राणियों के हृदयप्रदेश में स्थित रहकर अपनी माया के द्वारा गुणबन्धन तथा कर्मबन्धन रूपी माया के यन्त्र में बाँधकर भ्रान्तिज्ञान से भ्रमित किये हुए है। परमात्मा ऐसा क्यों कर रहा है, इस पर वेदवाणी का कथन है कि –

भोगार्थ सृष्टिः इति चान्ये क्रीड़ार्थ इति चापरे।
स्वभावोऽयमस्य देवस्य आप्तकामस्य का स्पृहा।।

अर्थात् कुछ विद्वानों का मानना है कि परमात्मा ने संसार को विषयभोगों को भोगने के लिए रचित किया है तथा अन्य कुछ विद्वान मानते हैं कि संसार रचना परमात्मा ने क्रीड़ा करने के लिए किया है, किन्तु सत्य यह है कि संसार रचना परमात्मा की मायाशक्ति का स्वभाव है, अन्यथा परमात्मा तो आप्तकाम यानि संकल्प–विकल्प रहित है, उसमें किसी भी प्रकार की कामनाओं का अभाव है। वेदशास्त्र इसकी पुष्टि करते हैं कि–

वीतरागभयक्रोधैः मुनिभिः वेदपारगैः।
निर्विकल्पो हि अयं दृष्टः प्रपंचोपशमः अद्वयः।।
मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित् सचराचरम्।
मनसो हि अमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।।

अर्थात् वेदज्ञान में पारंगत तथा रागद्वेष, भय तथा क्रोधादि मायिक गुणविकारों से मुक्त मुनियों ने समाधि में प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा यह प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि वह परमात्मा तो निर्विकल्प, संसार के प्रपंच से मुक्त अद्वैतस्वरूप है, उसमें न अविद्याजनित

भ्रान्तिज्ञान है और न अज्ञानमूलक द्वैतसृष्टि। यह जड़ तथा चेतन की संसार के रूप में द्वैतसृष्टि है वह तो स्वप्नसंसार की भान्ति मनोवृत्तियों का दृश्यमात्र है जिसे माया ने रचित किया है ठीक वैसे ही जैसे फिल्मों के चित्र प्रोजैक्टर द्वारा प्रकाशकिरणों के माध्यम से चलचित्र के पर्दे पर फिल्म संसार के रूप में दिखाये जाते हैं। जब निरोधसमाधि में चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है तब द्वैतसंसार नष्ट हो जाता है और केवल परमात्मा का सर्वव्यापी अद्वैतस्वरूप ही प्रकाशित रहता है। यह संसार तो माया द्वारा रचित गुणकर्मविभाग का प्रदर्शन मात्र है। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं स्वीकार करते हैं कि –

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि अनादी उभौ अपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।
सत्वं रजस्तमः इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनभव्ययम्।।

अर्थात् प्रकृति पुरुष का स्वभाव होने के नाते दोनों अनादि तथा अजन्मा हैं और संसार के रूप में जो दृश्य दिखाई देता है अथवा अनुभव में आता है वह सब प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तीन गुणों का परिणाममात्र है। इस प्रक्रिया को समझना बुद्धि का विषय नहीं है अतः शास्त्र का आश्रय लेना तथा उसमें श्रद्धा–विश्वास रखना ही बुद्धिमानी है। योगदर्शन में इसका संकेत दिया है कि –

''ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मनः
परिणामैकत्वात् वस्तुतत्त्वम्
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः''

अर्थात् समस्त स्थूलरूप तथा सूक्ष्म दृश्यजगत गुणपरिणामों से उत्पन्न हुआ है। किसी भी वस्तुविशेष का अस्तित्व गुणों के एक ही परिणामविशेष का द्योतक है, क्योंकि गुणों का भिन्न–भिन्न क्रमपरिणाम ही वस्तुपरिणाम की भिन्नता का कारण है। संसार के अस्तित्व के विषय में वेदवाणी इसी सत्य की पुष्टि करती है कि –

यावत् हेतुफलावेशः तावत् हेतुफलोद्भवः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते।।

अर्थात् प्रत्येक परिणाम के पीछे उसका कारण होता है और दोनों मिलकर कारण–कार्य का युग्म बनाते हैं। देवात्मशक्ति जो अपने गुणों से आच्छादित है और अनन्त कारणों का

मूलकारण है, उसके अतिरिक्त सभी कारण किसी अन्य कारण के कार्य (फल) हैं तथा कार्य भी किसी अन्य कार्य के कारण है। इस प्रकार कारण-कार्य की अनन्त श्रृंखला से संसार का विस्तार हुआ है। इसलिए जब तक चित्त में कारण-कार्य की वृत्तियों का आग्रह (आवेश) बना हुआ है तब तक नवीन कारण-कार्य की उत्पत्ति होती रहेगी। जब यह आवेश क्षीण हो जायेगा तब उस चित्त का संसार भी क्षीण हो जायेगा। महर्षि पतंजलि ने इस सत्य की पुष्टि की है कि –

''कृतार्थं प्रति नष्टमपि अनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्''

अर्थात् कृतार्थ मनुष्य का संसार तो प्रकाश आने पर अंधकार की भाँति नष्ट हो जाता है किन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में बना रहता है। परम सत्य यही है कि संसार में प्रत्येक कार्य, कार्य के कारण तथा कार्य का कर्तृव्य यह तीनों ही प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं किन्तु अज्ञान के कारण जीवात्मा अपने को कर्ता तथा फलभोक्ता समझती है। जीवात्मा का प्रकृति के वशीभूत होकर प्राकृतिक गुणों से उत्पन्न विषयभोगों का भोक्ता बनना ही उसकी जन्म-मृत्यु के दुःख, जरादुःख, व्याधिदुःख तथा तापदुःखों का कारण है। यद्यपि सुख-दुःख की अनुभूति मनोवृत्ति ही है जिसको बुद्धि ग्रहण करती है, किन्तु अस्मिता क्लेश के कारण माया ने जो आत्मबिम्ब के साथ बुद्धि की तदाकारता किया है वही अहंकार बुद्धि की प्रत्येक संवेदना को आत्मा में दर्शाता है जैसे कि चित्रित माध्यम पर रखी शुद्ध स्फटिक मणि में माध्यम के चित्र दिखाई देते हैं। योगदर्शन में इस सत्य की पुष्टि की है कि –

दृष्टा दृशिमात्रो शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।
चितेः अप्रतिसंक्रमायाः तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसम्वेदनम्।।

अर्थात् आत्मा परम शुद्ध तथा सर्वसाक्षी दृष्टा है किन्तु चित्त में चित्तवृत्ति के रूप में प्रकाशित है। यद्यपि आत्मतत्व स्वयं निष्क्रिय तथा निर्लिप्त है तथापि बुद्धि के साथ तदाकारता यानि अस्मिता क्लेश के कारण उसमें बुद्धिसंवेदना ग्रहण होती है इसीलिए वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा है। जीवात्मा तथा परमात्मा में जो भेदज्ञान है वह माया के गुणों का ही कमाल है।

माया का गुणविभाग

परमात्मा की माया यानि प्रकृति त्रिगुणात्मक है, यह गुण है

(1) सतोगुण (2) रजोगुण (3) तमोगुण। इन गुणों द्वारा रचित माया का मलावरण है पंचक्लेश। यह पंचक्लेश ही माया का गुणबन्धन कहलाता है। इस गुणबन्धन से निर्मित होता है चित्त का कर्माशय जो कर्मबन्धन का मायाजाल तैयार करता है। यह गुणबन्धन तथा कर्मबन्धन ही माया का गुणकर्मविभाग है। सर्वप्रथम हम मनुष्यजीवन पर गुणों के प्रभाव की झांकी देखेंगे। इस झांकी के संयोजक स्वयं भगवान श्रीकृष्ण हैं। वह संयोजक ही नही अपितु गुणों की साक्षात् प्रतिमूर्ति तथा बुद्धिज्ञान से परे अद्भुत तथा आश्चर्ययुक्त कार्यों को करने के लिए गुणों को शक्तिदाता तथ प्रेरिता भी है। उपनिषद् इस गुप्त रहस्य की पुष्टि करते हैं कि –

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः

पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेत् यः।
सर्वमेतत् विश्वमधितिष्ठति एकः
गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेत् यः।।

अर्थात् विश्व का एकमात्र कारणभूत परमात्मा ही विश्व के समस्त पदार्थों के स्वभाव को निष्पन्न यानि निर्धारित करता है, वही मायिक गुणों के परिणामी पदार्थों को परिणाम में परिवर्तित करता है। वह अकेला ही समस्त ब्रह्माण्ड का नियमन करता है तथा वही परमात्मा कल्पान्तर के आरम्भ में प्रजापतियों को उत्पन्न कर मायिक गुणों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है और गुणों में पृथक-पृथक स्वभाव नियोजित कर संसार में गुणवृत्तिविरोध तथा गुणक्रमपरिणामों का निष्पादन करता है। गुणों की इस लीला की झांकी गीता में दिया है कि –

सत्वं रजः तमः इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निवध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।
तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन वध्नाति ज्ञानसंगेन च अनघ।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निवध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्।।
तमस्तु अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिः तन्निवध्नाति भारत।।
सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा।।

अर्थात् परमात्मा की देवात्मशक्ति के रूप में प्रकृति से सत्व, रज तथा तम यह तीन गुण प्रकट हुए और एक ऐसा माया का आवरण बनाया कि आत्मतेज जो प्राण के साथ प्राणशरीर के रूप में देहादि शरीरों में प्रवेश करके उसी में बँध कर रह गया। इसी माया के आवरण में परमात्मा के भी तीन स्वरूप हो गये। यह किस तरह सम्भव हुआ इस पर एक उदाहरण हमारे समक्ष है कि –

स्वप्नमाये यथा दृष्टं गन्धर्वनगरं यथा।
तथा दृष्टमिदं विश्वं वेदान्तेषु विचक्षणैः।।
ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणर्चिकेताः।।

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न के मायिक संसार में परमात्मा ही तीन स्वरूपों में लक्षित होता है, प्रथम स्वरूप तो उस साक्षी का है जो असुप्त है और उसे यह ज्ञान है कि स्वप्न देखते हुए स्वप्न का संसार सत्य भाषित हो रहा था और जागृत का संसार विस्मृत था तथा स्वप्न से बाहर आने पर उसे यह ज्ञान रहता है कि स्वप्न का संसार मिथ्या था। द्वितीय स्वरूप उस दृष्टा का है जो स्वप्न देखते हुए स्वप्नकाल में स्वप्न के संसार को ही सत्य मानकर व्यवहार कर रहा होता है और स्वप्न से बाहर आने पर जागृत के संसार को सत्य मानकर व्यवहार करता है। तृतीय स्वरूप उस माया का है जिसने मनोवृत्तियों को दोनों अवस्थाओं में संसार का रूप दिया, स्वप्न में स्वप्न के संसार का तथा जागृत अवस्था में जागृत के संसार का। प्रथम स्वरूप ज्ञान स्वरूप है जिसे तीनों स्वरूपों का सदैव ज्ञान रहता है। गन्धर्वनगर की रचना भी द्वितीय मायिक स्वरूप से होती है। वेदान्तशास्त्र में निपुण ज्ञानियों ने विश्व की रचना का उसी रूप में साक्षात्कार किया है। परमात्मा का प्रथम तथा द्वितीय स्वरूप अपने ही तृतीय स्वरूप को अधिष्ठान बनाकर उसमें स्थित रहते हैं। उपनिषद् इस सत्य की पुष्टि करते हैं कि –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्न्यो अभिचाकशीति।।

अर्थात् एक ही मायारूपी वृक्ष पर साथ–साथ रहने वाले परमात्मा तथा जीवात्मा रूपी पक्षी निवास करते हैं। जीवात्मारूपी पक्षी भोक्ता बनकर मायावृक्ष के विषयभोगरूपी फलों का स्वाद लेने में आसक्त है तो परमात्मा रूपी पक्षी केवल साक्षी है न कि फलों में आसक्त। इस प्रकार सभी प्राणियों की बुद्धि में प्रवेश कर परमात्मा सर्वव्यापी साक्षी भी है और बुद्धि के साथ तदाकार होकर अल्पज्ञ भोक्ता भी बना हुआ है। यह मायायुक्त लीला उसी प्रकार है जैसे कि सूर्य की सर्वव्यापी धूप शरीर में प्रवेश कर शरीर के माध्यम से जब बाहर आती है तो सीमित आकार वाली छाया बन जाती है और अपने प्रकाशमय तथा ऊष्णतामय रूप को विस्मृत कर लेती है। कुछ ऐसा ही धूप–छाया जैसा सम्बन्ध परमात्मा–जीवात्मा का रहता है। इस माया के चमत्कार में माया के तीन गुण तथा उनके पंचक्लेशरूपी पचविकारों की भूमिका का विशेष योगदान है। भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी माया के इस आश्चर्यमय चमत्कार को स्वयं स्वीकार किया है कि –

द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरः अक्षरः एव च।
क्षराः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षरः उच्यते।।
उत्तमः पुरुषोऽन्यः परमात्मा इत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्ति अव्ययः ईश्वरः।।
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।

अर्थात् इस लोक में जो परमात्मा की योगमाया की लीला है उसमें परमात्मा का एक कूटस्थ, सर्वव्यापी तथा अक्षर स्वरूप है जो समस्त सृष्टि का अधिष्ठान है तथा सम्पूर्ण दृश्यजगत को अपने ही सर्वव्यापी स्वरूप पर अध्यारोपित किये हुए है जैसा कि चलचित्र के पर्दे पर सम्पूर्ण फिल्मसंसार प्रकाश पर अध्यारोपित होता है। परमात्मा का द्वितीय स्वरूप यह जड़ तथा चेतन संसार है जो परिवर्तनशील, नाशवान तथा भ्रान्तिपूर्ण है। तीसरा स्वरूप ईश्वर है जो मायाधीश है और सर्वत्र व्यापी तथा साक्षी होकर नित्यज्ञानस्वरूप में द्वितीय स्वरूप का नियन्ता, शासक तथा पालनकर्ता है। यही ईश्वरस्वरूप वैश्वानरदेव के रूप में सभी प्राणियों के शरीरों में जीवन का संचालन करता है। सभी शरीरधारी जीवात्माओं में मायाशक्ति के द्वारा हृदय में गुप्त रहकर स्मृति, विस्मृति, ज्ञान तथा अज्ञान संस्कारों का चित्त में आवरण बनाकर लोकव्यवहार की भूमिका बनाता है। यही परमात्मा अपने मायातीत सत्यस्वरूप को प्रकट करने के लिए वेद–वेदान्त का ज्ञान देकर स्वयं आत्मज्ञ महापुरुषों के स्वरूप में अपने को साकाररूप में भी प्रकट करता है। माया का गुणकर्मविधान इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर बनाया गया है। शास्त्रों में इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि –

प्रकाशस्थितिक्रियाशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।।

(योगदर्शन)

लोकानां व्यवहारार्थं अविद्या इयं विनिर्मिता।
एषा विमोहनी इत्युक्ता द्वैताद्वैतस्वरूपिणी।।

अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया द्वारा रचित दृश्यजगत का उद्देश्य विषयभोग तथा माया से मुक्ति दोनों हैं। जगत में प्रकाश, ज्ञान तथा सुखानुभूति सतोगुण का परिणाम है, जगत की भ्रान्तिमूलक स्थिति तमोगुण का परिणाम है तथा जगत का क्रियात्मक रूप रजोगुण का परिणाम है और जगत की चित्त में अनुभूति मनोयुक्त इन्द्रियों द्वारा पंचभूतों के रूप में होती है। परमात्मा ने अविद्या माया को लोकव्यवहार के लिए प्रकट किया है ताकि जीवात्मा के स्वरूप में संसार का संचालन हो सके और भ्रान्तिज्ञान के द्वारा गुणकर्म विधान सुचारु रूप से क्रियान्वित रहे। यही माया अद्वैत ज्ञान के द्वारा परमात्मदर्शन का भी निमित्त भी बनती है। अद्वैतज्ञान माया के शुद्ध सतोगुण का परिणाम है, क्योंकि शुद्ध सतोगुण निर्मल जल के समान है जिसमें सत्य का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए सत्वगुण प्रकाश, आनन्द तथा ज्ञान का प्रतीक है। रजोगुण क्रियात्मक है जिसमें राग, द्वेष, लोभ तथा कामनाओं से प्रेरित होकर संसार में प्रवृत्ति तथा कर्मबन्धन का निर्माण होता है।

(शेष अगले अंक में)

वज्रासन

जङ्घभ्यां वज्रवत्कृत्वा, गुदपार्श्वपदावुभौ।

वज्रासनं भवेदेतद्योगिनां सिद्धि दायकम्।।

विधि– दोनों जंघाओं को वज्रवत् दृढ़ करके दोनों पैरों को गुदा के पार्श्व भाव में जमाकर सीधे बैठ जायें। इसी को वज्रासन कहते हैं। कदाचित यही इस आसन को किये हुए ही पीछे को लेट जायें। छाती को दृढ़ता के साथ ऊपर को निकाल लें। दोनों हाथों को मिलाकर (अंगुलियों में अंगुलियाँ डालकर) छाती पर रख लें या पिछली ओर शिर के नीचे जमा कर रख लें तो इसी को प्रसुप्त वज्रासन कहते हैं।

लाभ – यह आसन शरीर में दृढ़ता देता है। दोनों जंघा, छाती व उदर–विकारों का नाशक है।

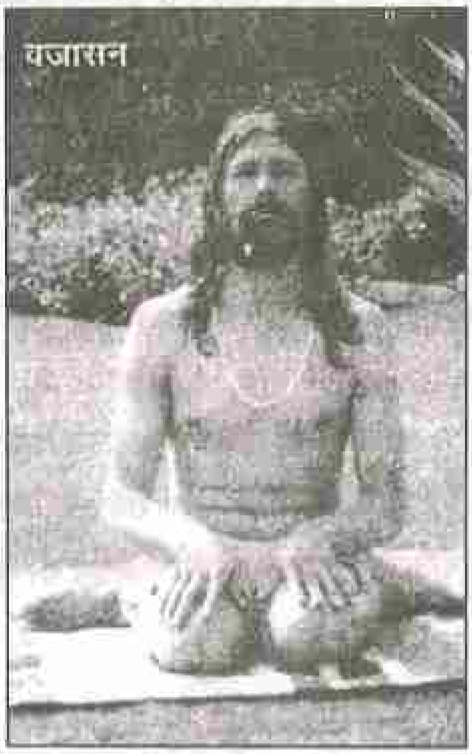

खोल दो दरवाजा

– जगदीश राए बंसल 'अधम', नई दिल्ली

लेकर अर्जी तेरे दर पै – एक सेवक आया है।
खोल दो दरवाजा गुरु जी – तेरा लल्ला आया है।।

लेकर जन्म अलुपुर तुने– हरियाणे का नाम किया
प्रभूजी का डंका बजा कर –योग का प्रचार किया
झन्डा ऊँचा देख गुरु का – मेरा मन हर्षाया है।

खोल दो .... (1)

अष्टांग योग की शिक्षा देकर – जीवन का उत्थान किया
नित–नित जीवन तत्व करा कर– रोगों का निदान किया
बढ़ते कदमों में मुझको – जीवन ज्योति जलाना है।

खोल दो .... (2)

दीन–दुखी के रक्षक दाता – जग के पालन वारे हो
धोती कुर्ता धारन वाले – क्या 2 रूप छिपाए हो
दर दर मैंने खोल लिया – नहीं दर जो दर हमारा है।

खोल दो .... (3)

साक्षात ब्रह्मा जी हो – विष्णु और महेश्वरा हो
लख नाम पुकारें आप के – रवि और चन्द्रमा हो
दोऊ कर जोरी शरण तोरी – अधम पार लगाना है।

खोल दो .... (4)

अथर्व वेद

ब्रह्मचर्येण तप सा देवा मृत्युमुपाघ्नत्।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत्।।

ब्रह्मचर्य का पालन और तपस्या करके देव पुरुषों ने मृत्यु को मार भगाया है। ब्रह्मचर्य का पालन कर यह जीवात्मा इन्द्रियों से दुर्लभ सुख को प्राप्त करता है।

विमर्श – जीवात्मा अपने कर्मों का शुभाशुभ फल भोगने के लिए, नाना प्रकार की ***योनियों में बार-बार जन्म लेता है और मरता है।*** मनुष्य योनि में वह फल भोगने के साथ ही नया कर्म भी करता है जबकि इस योनि के अलावा ***अन्य सभी योनियों में जीवात्मा सिर्फ पूर्व कर्मों का फल भोगता है नया कर्म नहीं करता।*** ऐसी दुर्लभ और अत्यन्त उपयोगी मनुष्य योनि का समय, नाना प्रकार के विषयभोग और कुकर्मों को करने में उलझा रह कर, बेकार व्यतीत कर देता है और ***इन कर्मों का फल भोगने के लिए विभिन्न योनियों में भटकता रहता है।*** इस मनुष्य जीवन का सदुपयोग करने, उचित उपभोग करने और अच्छे कर्म पर आत्मोन्नति करने के लिए हमें ब्रह्मचर्य का पालन **और** व्यायाम का नियमित अभ्यास अवश्य करना चाहिए ताकि हम इस जीवन में लम्बे समय तक स्वस्थ और बलवान बने रह सकें और शुभ कर्म करते रह सकें।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ________________

____

____

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥

(प्रश्नोपनिषद्)

ओंकार की तीन मात्राएँ ('अ', 'उ' तथा 'म') एक दूसरी से संयुक्त रहकर प्रयुक्त की गयी हों, या पृथक्-पृथक् एक-एक ध्येय के चिन्तनमें उनका प्रयोग किया गया हो (दोनों प्रकार से ही वे) मृत्यु युक्त हैं, परंतु, भीतर, बाहर और बीच की क्रियाओं में पूर्णतया इन मात्राओं का प्रयोग किए जाने पर उस परमेश्वर को जानने वाला ज्ञानी विचलित नहीं होता।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सर्वाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566 सम्पादक : आचार्य व (डॉ.) दासलाल शर्मा